मुद्रक—
काव्यतीर्थ—पं० विश्वम्भरनाथ वाजपेयी,
ओंकार प्रेस, प्रयाग।

भूमिका

कम्यूनिज्म या साम्यवाद वर्तमान समय में संसार का सब से बड़ा और शक्तिशाली आन्दोलन है। संसार का कोई देश, जाति और समाज इसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा है। आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के प्रधान लीला-क्षेत्र अमरीका से लेकर प्राचीन सभ्यता के केन्द्र चीन और असभ्य पठानों तक में यह अपना रङ्ग दिखला रहा है। क्या गरीब और क्या अमीर, क्या छोटे और क्या बड़े, सभी इसकी ओर उत्सुक नेत्रो से देख रहे हैं। गरीब इसकी बदौलत चिरकालीन कष्टों और दुर्दशा से छूटने की आशा कर रहे हैं, और अमीर इसके कारण अपने विशेष अधिकारो और वैभव के छीने जाने के भय से भयभीत

हो रहे हैं। जिन लोगों को इससे अपनी हानि की आशंका है और जो समझते हैं कि किसी न किसी दिन यह आन्दोलन उनके ऊँचे महलों और लोहे की तिजोरियो तक पहुँच जायगा और उनके 'ईश्वरप्रदत्त बड़प्पन' को मिटा देगा, वे जी जान से इसका विरोध करने, इसे बदनाम करने और इसकी जड़ खोदने में लगे हैं। पर यह आन्दोलन इस समय रक्तबीज का वंशज बना हुआ है और ज्यों-ज्यों इसे दबाने और नष्ट करने की चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों यह अधिक फैलता तथा बढ़ता जाता है, और संसार के श्रमजीवियों—गरीबों को, जिनकी संख्या मोटी तोंद वालों से बहुत अधिक है, और जो दिनरात पिसते रहने पर भी भर पेट भोजन नहीं पाते, अधिकाधिक अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। यही कारण है कि आज बड़े-बड़े राजा, महाराजा, सम्राट् और करोड़पति तथा अरबपति इसके नाम से दहलाते हैं और समस्त संसार मे इसके कारण हलचल और उथल-पथल मची हुई है।

भारत भी इस नई लहर के प्रभाव से बच नहीं सका है। बम्बई और कलकत्ता जैसे उद्योग-धन्धों के केन्द्रों के मजदूरों या श्रमजीवियों पर साम्यवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने में आता है। अब इस देश में भी कारखानों के मजदूरों और दूसरे नौकरी पेशावालों की हड़तालें हर रोज की घटनायें हो गई हैं, और वे लोग अपने सङ्गठन तथा

शक्ति की निरन्तर वृद्धि करते हुये अपने स्वाभाविक अधिकारो के लिये लड़ रहे है। छोटे-छोटे देहातों में भी अब इसकी हवा पहुँच गई है, और यद्यपि भारतीय किसान स्वभाव से प्राचीनता के रक्षक तथा परिवर्तन के विरोधी हैं, तो भी वे इसकी तरफ आकर्पित हो रहे हैं, और टकटकी लगाये उस दिन का रास्ता देख रहे हैं जब कि उनके अमानुपी कष्टों और उनके ऊपर होनेवाले अन्याय तथा अत्याचारों का अन्त होगा। शहरों में रहनेवाले और अखवारो के पन्ने लौटनेवाले अधिकांश लोग इससे परिचित है और उनमें से जो गरीव हैं और मिहनत करके भी अपना और अपने कुटुम्ववालों का पेट भलीभांति नहीं भर सकते, वे साम्यवाद का नाम सुनकर प्रसन्न हो उठते हैं। विशेप कर जोशीले और सार्वजनिक मामलों में कुछ दिलचस्पी रखनेवाले साधारण स्थिति के नौजवान तो पूरी तौर से साम्यवाद के भक्त हैं, और चाहे वे इसके मर्म को अधिक न समझते हों पर सदैव इसका पक्ष लेने और इसका समर्थन करने को तैयार रहते हैं। उनको विश्वास हो गया है कि असमानता ही उनके दुःखों की जड़ है, जिसका विध्वंस केवल साम्यवाद द्वारा हो सकता है।

वर्तमान समय में साम्यवाद के जिस रूप का विशेष प्रचार है और जिससे गरीवों की अधिक से अधिक

भलाई होने की सम्भावना है उसका जन्मदाता कार्ल मार्क्स था। मार्क्स ने साम्यवाद को कल्पना के क्षेत्र से हटा कर वैज्ञानिक रूप दिया है, और इस प्रकार उसे संसार के प्रत्येक मनुष्य के, चाहे वह किसी देश, जाति या धर्म का क्यों न हो, समझने और मानने लायक वना दिया है। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में कितने ही ग्रंथ रचे हैं, जिनमे से 'कैपिटल' (पूँजी) नाम का ग्रंथ साम्यवादियो और कम्यूनिस्टों की बाइविल या गीता माना जाता है। यह ग्रथ वड़े-वड़े ढाई हजार पृष्ठों मे समाप्त हुआ है और उसे मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली आर्थिक समस्याओं का समुद्र ही कहना यथार्थ है। पर उसका पढ़ना और समझ सकना सहज नहीं, और केवल थोड़े से विद्वान् ही, जो अर्थशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता हों, इसके लिये समर्थ हो सकते हैं। साधारण लोग उसके सिद्धान्तो को तभी समझ सकते हैं जव कि उनको सार रूप मे और सरल से सरल ढङ्ग से वर्णन किया जाय। इस वात की चेष्टा इस छोटी सी पुस्तक मे की गई है, जो कि पाठको के हाथ में है।

ऐसी पुस्तकों को हिन्दी मे लिखने मे जो सबसे वड़ी कठिनाई है वह भाषा-सम्बन्धी है। अर्थशास्त्र और साम्यवाद का विषय हिन्दी मे नया है और तत्सम्बन्धी भावो को प्रकट कर सकने लायक शब्दो की इसमे वड़ी कमी

है। यदि कठिन संस्कृत शब्दों का बहुत अधिक सहारा लिया जाय तो यह काम कुछ सम्भव हो सकता है, पर फिर सरलता का गुण स्थिर नहीं रह सकता, और न साधारण पढ़े-लिखे लोग उससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। इस लिये हमने इस पुस्तक में मार्क्स के शब्दों की बजाय उसके भावों का ही अधिक ध्यान रखा है, और जहाँ तक सम्भव हो सका है भाषा को सरल और साधारण पढ़े-लिखे लोगों के समझ सकने लायक बनाने की चेष्टा की है। जिन बातों को साधारण पाठक नहीं समझ सकते उनको छोड़ दिया है और दार्शनिक परिभाषाओं और व्याख्याओं की जगह मामूली बोलचाल के शब्दों में ही आशय को प्रकट किया है। ऐसा करने से सम्भव है कि कहीं-कहीं अपूर्णता या त्रुटि आ गई हो, पर जो कुछ लिखा है उसे पाठक अच्छी तरह समझ सकेंगे और मार्क्स के सिद्धान्त की मोटी-मोटी बातों का ज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। इससे यदि उनके हृदय में इस विषय की ओर रुचि उत्पन्न हो तो वे अन्य पुस्तकों से इसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस पुस्तक के लिखने में हमने निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली है:—

(१) The Life and Teachings of Karl

Marx—by Max Beer (मैक्स वीयर लिखित—'कार्ल मार्क्स की जीवनी और उपदेश')

(२) Karl Marx. Biographical Memoirs—by Wilhelm Liebnecht (विलियम लिवनेट लिखित—'कार्ल मार्क्स के जीवन सम्बन्धी संस्मरण।')

(३) Karl Marx and Modern Socialism—by F R. Salter (एफ० आर० सालटर लिखित—'कार्ल मार्क्स और आधुनिक साम्यवाद।')

इनमे से मैक्स वीयर की पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण है और वही हमारी पुस्तक का मुख्य आधार है। लिवनेट की पुस्तक से भी हम ने वहुत सी वातें ली हैं। मार्क्स के जीवनचरित्र सम्बन्धी घटनायें प्राय: उसी की हैं। तीसरी पुस्तक आलोचनात्मक है और उसमे से केवल दो-चार वातें सम्मिलित की गई हैं।

इलाहावाद
२५ अगस्त १९३० } सत्यभक्त

———

विषय-सूची

कार्ल मार्क्स

प्रथम अध्याय

आरम्भिक जीवन

कार्ल हेनरिक मार्क्स का जन्म जर्मनी के एक अति प्राचीन नगर ट्रेवस् में ५ मई सन् १८१८ को हुआ था। उसका वाप उदार और उन्नतिशील विचारों का एक यहूदी था। वह वकील का धंधा करता था और ग़रीवी की हालत से उन्नति करते करते इस ऊँचे दर्जे पर पहुँचा था। वह अच्छा विद्या-प्रेमी था, और फ्राँस में अठारहवीं शताब्दी में जिन धार्मिक, वैज्ञानिक और कला-सम्बन्धी नवीन विचारों का प्रचार हुआ था उनसे अच्छी तरह परिचित था। पर वह कभी अधिक धन कमाने और

इकट्ठा करने की चतुराई प्राप्त न कर सका। मार्क्स की माँ हालैण्ड की रहनेवाली थी और जीवन के अंतिम समय तक जर्मन भाषा शुद्ध नहीं बोल सकती थी। वह मार्क्स के विषय में कहा करती थी कि—"अगर कार्ल सम्पत्ति के विषय मे बहुत कुछ लिखने के बजाय बहुत सी सम्पत्ति इकट्ठा करता तो यह कही अच्छा होता।" मार्क्स के पिता के कई संतानें उत्पन्न हुईं पर उसके सिवाय किसी मे विशेष प्रतिभा के लक्षण देखने मे न आये।

सन् १८२४ मे मार्क्स के पिता ने सकुटुम्ब यहूदी मजहब छोड़कर ईसाई मजहब स्वीकार कर लिया। इस धर्म-परिवर्तन के कई कारण थे। उन्हीं दिनों जर्मनी की सरकार की तरफ़ से एक राजाज्ञा प्रचारित हुई थी कि कोई भी यहूदी बिना ईसाई मजहब को स्वीकार किये सरकारी नौकरी नहीं पा सकता। इसके सिवाय इन दिनों जर्मनी में राष्ट्रीयता का भाव विशेष जोर पकड़ रहा था और इस कारण देशभक्त यहूदी ईसाई होना अच्छा समझते थे। क्योंकि यह राष्ट्रीय मजहब समझा जाता था और यहूदियों को एक प्रकार से विदेशी ख़याल किया जाता था। मार्क्स के पिता को भी देशभक्त होने का अभिमान था और उसने एक बार उससे नैपोलियन के पतन और जर्मनी की विजय पर एक महाकाव्य लिखने को कहा था। यद्यपि मार्क्स को यहूदी मजहब से किसी

प्रकार का प्रेम न था, तो भी यहूदियो के ऊपर होने वाले इन अन्याय-अत्याचारो को वह बहुत बुरा समझता था। इस घटना के बीस वर्ष बाद जब कि वह सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने लगा था, मार्क्स ने यहूदियों के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा जिसमें जोरदार शब्दों में इन अन्यायों का विरोध किया गया था।

मार्क्स शिक्षा पाने के लिये अपने शहर के स्कूल में भेजा गया, जहाँ पर वह एक प्रतिभाशाली और होनहार विद्यार्थी समझा जाता था। उसके सहपाठी उससे प्रेम करते थे और डरते भी थे। प्रेम करने का कारण यह था कि वह खेल-कूद मे सदा बड़े उत्साह से भाग लेता था; और डरने का कारण यह था कि वह अपने दुश्मनो के विरुद्ध व्यंगपूर्ण कविता करता था और उनको खूब चिढ़ाता था। उन दिनो वह प्रायः अपने पिता के मित्र और प्रिवी कौंसिल के मेम्बर एडगर वान वेस्टफेलन के मकान पर जाया करता था। वेस्टफेलन यद्यपि बड़ी उम्र का था, तो भी वह बालक मार्क्स के साथ बड़े प्रेम से बातें करता था और उसके मानसिक विकास की चेष्टा करता रहता था। मार्क्स सदैव उसका सम्मान और स्मरण करता रहा, और एक जगह उसके विषय में वह लिखता है—"वह सत्य का प्रेमी था और हर एक उन्नति-शील आन्दोलन का उत्साह और विचारपूर्वक स्वागत

करता था। उसका जीवन इस बात का प्रमाण था कि आदर्श-वाद कल्पना पर नहीं वरन् सचाई पर आधार रखता है।"

विद्यार्थी जीवन

स्कूल की साधारण शिक्षा समाप्त करके मार्क्स अपने पिता की इच्छानुसार बोन विश्वविद्यालय में क़ानून की शिक्षा प्राप्त करने को प्रविष्ट हुआ। वहाँ पर एक वर्ष रहने के पश्चात् सन् १८३६ मे वह बर्लिन विश्वविद्यालय में भेजा गया, जो कि सस्कृति और ज्ञान का केन्द्र माना जाता था। बर्लिन को रवाना होने के प्रथम ही वह अपने पूर्व परिचित वान वेस्टफेलन की कन्या जेनी वेस्टफेलन के साथ विवाह करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो गया। जेनी बाल्यावस्था से ही मार्क्स की सहचरी थी और तभी से एक साथ खेलते-खेलते दोनो मे स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न हो गया था। उनका यह प्रेम आदर्श-प्रेम सिद्ध हुआ और जीवन के अन्त तक उसमे तनिक भी अन्तर न पड़ा।

बर्लिन मे मार्क्स ने अपना सम्पूर्ण समय दर्शन-शास्त्र, क़ानून, इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि के अध्ययन मे लगा दिया। वह सत्य-ज्ञान की खोज मे पागल हो रहा था और उसकी कार्य करने की आकांक्षा किसी प्रकार तृप्त नहीं होती थी। उस समय रची एक कविता मे वह स्वयं अपने विषय मे कहता है :—

"मैं कोई कार्य शान्ति के साथ पूरा नहीं कर सकता, न मालूम मेरी आत्मा में कौन सी शक्ति समा गई है। मेरी यही इच्छा रहती है कि मैं बिना आराम किये या बिना कही पर ठहरे सदा आगे बढ़ने की चेष्टा और उद्योग करता रहूँ। समस्त पवित्र और उच्च गुणों को मैं अपने जीवन का अङ्ग बना लूँ। मैं विज्ञान-प्रदेश में प्रवेश करूँ तथा संगीत और कला के आनन्द को ग्रहण करूँ।"

उस समय मार्क्स लोगो से मिलना-जुलना छोड़ और खेल-तमाशे की तरफ आँख भी न उठा कर दिन-रात अध्ययन मे लगा रहता था। वह जो कुछ पढ़ता था उसको संक्षेप मे लिखता जाता था। वह ग्रीक और लैटिन भाषाओं से अनुवाद करता था, दार्शनिक सिद्धान्तों का मनन करता था और उनमे अपनी तरफ से कितने ही नवीन विचारो को जोड़ता था, और दर्शन तथा क़ानून के ग्रन्थो का सारांश लिखता था। इतना ही नहीं, कविता की तीन पुस्तके भी उसने इस बीच मे लिख डाली। इस प्रकार सन् १८३६ से १८२९ तक का समय मार्क्स के मानसिक विकास की दृष्टि से बड़े महत्व का था। इस समय में उसके ज्ञान की बहुत वृद्धि हुई और उसके भीतर सत्यासत्य का द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। अन्त मे उसने जर्मनी के प्रधान दार्शनिक हेगल के तर्क-शास्त्र की शरण ली। उस समय मार्क्स को पूरा विश्वास था कि एकमात्र

हेगल का सिद्धान्त ही सत्य है। एक लम्बे पत्र में, जो उसने १० नवम्बर १८३७ को अपने पिता के नाम लिखा था, अपने उस समय के कठिन परिश्रम का वर्णन किया है। उस समय वह विश्वविद्यालय की केवल दो श्रेणियों की पढ़ाई समाप्त कर चुका था और उसकी उम्र बहुत कम थी। उस पत्र का कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

"माननीय पिता जी,

"हमारे जीवन में कितनी ही बार ऐसे अवसर आते हैं जब कि हम जीवन के एक अंश को पूरा करके दूसरे मे प्रवेश करते है और एक नवीन धारा में बहने लगते हैं। ऐसे परिवर्तन-काल मे आवश्यक जान पड़ता है कि हम अपने भूत और वर्तमान की आलोचना करें, जिससे हमारी वास्तविक दशा का स्पष्ट रूप से पता लग सके।

"इसी दृष्टि से अब मैं अपने पिछले वर्ष के कामों पर विचार करना चाहता हूँ।

"बर्लिन पहुँचने पर मैंने अपने समस्त पूर्व सम्बन्धों को तोड़ दिया और लोगों से भेंट करना बहुत ही कम कर दिया। मैने अपने को पूरी तरह से विज्ञान और कला में डुबो दिया। इस समय मेरे विचारों के अनुसार कविता सब से अधिक ध्यान देने लायक वस्तु थी, और यही मुझे सब से अधिक प्रिय जान पड़ती थी। इसके पश्चात् मेरा

ध्यान क़ानून की तरफ़ जाता था। और इन दोनों से बढ़कर मैं दर्शनशास्त्र के अध्ययन में लगना चाहता था।

"इन विभिन्न विषयों का अध्ययन करने के फलस्वरूप आरम्भ मे मुझे अनेक वार रात-रात भर जागना पड़ा, और मानसिक तथा शारीरिक उत्तेजना भी वहुत वढ़ गई। पर अन्त में मैंने देखा कि इस तरह के काम से मुझे विशेष लाभ नहीं हुआ। इसके कारण मैं प्राकृतिक सौन्दर्य, ललित-कला और सामाजिक आनन्द से पृथक् हो गया और प्रसन्नता को मैंने ठुकरा दिया। मेरे शरीर पर भी इसका असर खराब पड़ा और डाक्टर ने मुझे कुछ दिन देहात में रहने की सलाह दी।

"देहात मे रहते हुये मैंने एक निवन्ध दर्शनशास्त्र के विकास पर लिखा। इसके लिये मुझे हेगल के दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा। फल यह हुआ कि मैं उसी चीज़ का उपासक वन गया जिससे अव तक घृणा किया करता था। यह एक ऐसी वात थी जिससे मुझे वड़ा मानसिक कष्ट हुआ। इसी समय जेनी की वीमारी का समाचार पाकर मेरी चिन्ता और भी वढ़ गई। इसका प्रभाव मेरे स्वास्थ्य पर वुरा पड़ा और मैं वीमार हो गया।

"वीमारी से छुटकारा पाने पर मैंने अपनी तमाम कविताओं और अधूरी कहानियों को जला डाला। इस वीच में मैंने हेगल और उसके शिष्यों के अधिकाँश ग्रंथो

को आदि से अन्त तक पढ़ डाला। इन्हीं दिनों कई मित्रों द्वारा मेरा सम्बन्ध 'ग्रैजुएट्स-क्लब' से हो गया। वहाँ पर कितने ही प्रोफेसरों से और मेरे बर्लिन के प्रधान मित्र डा० रुटेनबर्ग से मेरी भेंट होती रहती थी। क्लब में दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी जो वादविवाद होता था उसमे विभिन्न प्रकार के मत सुनने में आते थे और उसके फल-स्वरूप मैं दिन पर दिन हेगल के तर्क-शास्त्र के फन्दे मे फँसता गया, जिससे मैं पहले बचना चाहता था। पर साथ ही इसके प्रभाव से मेरे हृदय की समस्त शङ्काओं का समाधान हो गया।"

उसका पिता इस पत्र को पढ़कर प्रसन्न नहीं हुआ। उसने इस प्रकार के निरुद्देश्य और क्षणस्थायी कामों में पड़ने के लिये मार्क्स को फटकारा। उसके मतानुसार मार्क्स का कर्तव्य था कि सबसे पहले वह अपने भावी जीवन की तरफ ध्यान दे, अपनी समस्त शक्ति विश्व-विद्यालय की पढ़ाई मे खर्च करे, ऊँचे पद वाले लोगों से मिलता-जुलता रहे, मितव्ययता से काम ले, और दार्शनिक वितण्डावाद से बचा रहे। उसने मार्क्स के दूसरे सहपाठियों का, जो नियमित रूप से अपनी पढ़ाई मे लगे रहते थे, और अपने भावी जीवन पर लक्ष्य रखते थे, उदाहरण देकर लिखा:—

"इसमें सन्देह नहीं कि ये नवयुवक रात को शान्तिपूर्वक

सोते हैं, सिवाय ऐसे किसी मौके के जब कि वे रात का बहुत सा समय खेल-तमाशे में बिता दें। इनके मुकाबले में मेरा चतुर और प्रतिभाशाली पुत्र रूखी पुस्तकें पढ़कर अपने मन और शरीर को थका डालता है और रात को सोने तक की फुरसत नहीं पाता। उसने गहन विषयों के अध्ययन के लिये जीवन के सब आनन्दों को त्याग दिया है। पर जो कुछ वह एक दिन बनाता है, दूसरे दिन उसे नष्ट कर डालता है, और अन्त में उसे मालूम होता है कि मेरे पास जो कुछ था सब जाता रहा और बदले मे मुझे कुछ भी न मिला। फल यह होता है कि उसका शरीर रोगी होने लगता है और दिमाग़ निर्बल हो जाता है। उधर वे मामूली नवयुवक सहज मार्ग से धीरे धीरे आगे बढ़ते चले जाते हैं और अपने लक्ष्य को, अधिक उत्तमता से नहीं तो कम से कम, सुख-पूर्वक प्राप्त कर लेते हैं।"

यद्यपि मार्क्स अपने पिता से बहुत प्रेम रखता था, तो भी वह उसकी खातिर अपने निश्चित मार्ग को त्यागने के लिये राजी न हुआ। जो मनुष्य प्रचलित धर्मों पर से विश्वास हटाकर, दर्शन और विज्ञान के द्वारा विश्व की वास्तविकता को जानना चाहते हैं, वे पार्थिव प्रेम के कारण सहज में अपने सिद्धान्तों को नहीं छोड़ सकते। भविष्य में उच्च सरकारी पद पाने का लालच भी मार्क्स को मार्गच्युत

न कर सका। ऐसे जन्म से लड़ाके पुरुष इस प्रकार की अधीनता स्वीकार नहीं कर सकते। उन दिनों उसने एक कविता लिखी थी, उसमें वह कहता है :—

"हमको सब कामो मे साहस दिखलाना चाहिये और अपने कर्तव्य से कभी विमुख न होना चाहिये ; न हमको कभी निराश होकर अपनी इच्छा और कामों मे ढीलापन आने देना चाहिये।"

"हमको निकृष्ट पराधीनता में फँसकर कभी अपने भयभीत जीवन के लिये चिन्ता न करनी चाहिये, वरन् संग्राम में प्रविष्ट होकर कर्म करना चाहिये।"

यद्यपि मार्क्स ने हेगल के तर्क-शास्त्र से प्रभावित होकर अपनी कविताओं को जला डाला था, तो भी उसका कविता-प्रेम जड़ से नष्ट नहीं हुआ था। कविता की ओर सर्व-प्रथम उसकी प्रेरणा करानेवाला उसका बाप ही था। उसको बाल्यावस्था से ही कविता को शिक्षा दी गई थी। एक बार मार्क्स ने कहा था—"बर्लिन विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते समय मेरे सब कार्यों का आधार कविता पर रहता था; मानो किसी अपार्थिव शक्ति ने मुझ पर जादू डाल रखा हो।" आरम्भ में उसे अद्भुत-रस-युक्त और काल्पनिक कविताओं में अधिक आनन्द मिलता था। इस कविता-प्रेम की बदौलत ही उसका विवाह जेनी वेस्ट-फेलन से हो सका था। जेनी का पिता उसके कविताप्रेम

से प्रसन्न था और उसको प्रायः होमर तथा शेक्स-पियर के काव्य पढ़कर सुनाया करता था। मार्क्स का यह कविता-प्रेम जीवन भर क़ायम रहा, यद्यपि आगे चलकर उसकी रुचि बदल गई और वह अन्य सब कवियों की अपेक्षा डान्टे और वाल्ट ह्विटमैन की कविताओं को ही अधिक पढ़ा करता था।

देहात की आबहवा का प्रभाव मार्क्स के स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा पड़ा और थोड़े ही दिनों में वह बिल्कुल चंगा हो गया। अब वह बड़े परिश्रम से हेगल के दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने लगा। इस विषय में 'प्रेजुग्ट्स-क्लब' के मेम्बरों से उसे बहुत सहायता मिलती थी। वहां पर उसका परिचय ब्रुनो बौर से हुआ, जो अध्यात्म-विद्या का व्याख्यानदाता था। इन लोगों की संगति के प्रभाव से मार्क्स ने सरकारी अफसर बनने का ख़्याल सदा के लिये छोड़ दिया और किसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर काम करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। कुछ दिनों बाद उसके बाप ने भी अपने पुत्र के नवीन अध्यव-साय और आकांक्षा को स्वीकार कर लिया। पर वह मार्क्स की सफलता देखने के लिये अधिक समय तक न ठहर सका और सन् १८३८ के मई महीने में ५६ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया।

पिता के देहान्त के पश्चात् मार्क्स ने क़ानून की पढ़ाई

बिल्कुल छोड़ दी, और बड़े परिश्रम पूर्वक दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने लगा। उसका विचार यथासम्भव शीघ्र दर्शन-शास्त्र की परीक्षा पास करने का था, क्योंकि ब्रुनो बौर ने उसे आशा दिलाई थी कि वह बोन विश्वविद्यालय में व्याख्यानदाता का पद पा सकेगा। सन् १८४१ में मार्क्स ने दर्शन-शास्त्र पर एक महत्वपूर्ण निबन्ध तैयार किया, जिससे उसको पी० एच० डी० की उपाधि मिल गई। इसके पश्चात् वह बोन विश्वविद्यालय में नौकरी के लिये पहुँचा पर शीघ्र ही उसकी आशा भङ्ग हो गई। ब्रुनो बौर भी उसकी कुछ सहायता न कर सका, क्योंकि उसे स्वय भी कोई स्थान न मिल सका था। उन दिनो जर्मन विश्वविद्यालयो मे मार्क्स के समान स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य को स्थान मिल सकना असम्भव था। अब उसके सामने स्वतंत्र रूप से लिखने का व्यवसाय करने के और कोई मार्ग न रहा।

सार्वजनिक जीवन का आरम्भ

अब मार्क्स ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। वह दर्शन-शास्त्र का पूर्ण रूप से अध्ययन कर चुका था और जर्मनी को आध्यात्मिक स्वाधीनता प्राप्त कराने की भावना उसके भीतर उमड़ रही थी। आध्यात्मिक स्वाधीनता से उसका मतलब यह था कि मज़हबी मामलो में

लोगों को पूरी स्वाधीनता रहे और राजनीतिक विषयों में भी उनकी आवाज़ सुनी जाय।

अब मार्क्स किसी सरकारी शिक्षा-संस्था में काम करने की आशा को सदा के लिये त्याग चुका था और कोई ऐसा काम तलाश कर रहा था जिससे वह स्वतंत्रता-पूर्वक अपना जीवन निर्वाह कर सके और साथ ही अपने दार्शनिक उद्देश्य को भी पूरा कर सके। शीघ्र ही उसे एक ऐसा मौका मिल गया। इन्ही दिनो मे जर्मनी के राइनलैण्ड प्रदेश के उदार दलवाले एक समाचारपत्र प्रकाशित करने की योजना कर रहे थे, जिसका उद्देश्य जनता के अधिकारों की वृद्धि कराना था। उसके सम्पाद-कीय विभाग में हेगल के अनुयायी विशेष रूप से नियुक्त किये गये थे। इस पत्र का नाम 'राइनिश जीटुङ्ग' था और वह कोलोन नगर से प्रकाशित होनेवाला था। १ जनवरी १८४२ को इसकी प्रथम संख्या प्रकाशित हुई। इसके प्रधान सम्पादक डा० रुटेनबर्ग थे जिनके साथ बर्लिन मे मार्क्स की घनिष्ठ मित्रता हो चुकी थी। उन्होने मार्क्स से इस पत्र मे लेख भेजने का आग्रह किया। मार्क्स के लेखों को 'राइनिश जीटुङ्ग' के पाठको ने इतना पसन्द किया कि १ अक्टूबर १८४२ मे जब डा० रुटेनबर्ग उससे अलग हुये तो मार्क्स को ही उसका प्रधान सम्पादक नियत किया गया। इस कार्य के लिये उसको अर्थशास्त्र और साम्य-

वाद का विशेष रूप से अध्ययन करना पड़ा। इस सम्बन्ध में उसने अपने 'अर्थशास्त्र की आलोचना' नामक ग्रंथ की भूमिका में लिखा है:—

" 'राइनिश जीटुङ्ग' के सम्पादक के पद पर काम करते समय सन् १८४२ और ४३ में मुझको प्रथम बार आर्थिक विषय-सम्बन्धी वादविवाद मे भाग लेना पड़ा। उन दिनों राइनलैण्ड की शासन-सभा मे किसानों द्वारा जंगली लकड़ी की चोरी, जमीन की बिक्री, और व्यापार के सरक्षण के सम्बन्ध मे जो बहस हुई उससे मेरी रुचि आर्थिक विषयो की तरफ गई। साथ ही हमारे अखबार मे जो लेख प्रकाशित होने को आते थे उनमे अनेक बार फ्रांस मे प्रचलित साम्यवाद और कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों का साधारण तौर से जिक्र किया जाता था। मैं इस प्रकार की अपूर्ण ज्ञान द्वारा लिखी बातों का विरोध करता था। उस समय तक मैंने फ्रॉस के साम्यवादी ग्रंथों का इतना अध्ययन नहीं किया था कि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय कर सकूँ।"

उन दिनों जर्मनी में अखबारों के ऊपर सरकार की कड़ी नजर रहती थी और बिना 'सेंसर' के पास किये कुछ छप सकना असम्भव था। 'राइनिश जीटुङ्ग' सरकार का विरोधी था और इसलिये स्वभावतः उसे सदा 'सेंसर' से झगड़ा करना पड़ता था। पर मार्क्स मे दूसरे व्यक्तियों

पर प्रभाव डालने और उनको अपने अनुकूल बना लेने की विलक्षण शक्ति थी और इसके कारण 'सेंसर' सदा उससे दब कर रहते थे। वे अनेक बार पत्र मे ऐसी बातें छप जाने देते थे जो बर्लिन में आपत्तिजनक समझी जाती थीं और जिनके लिये उनको बार-बार फटकार मिलती थी। जब कितने ही 'सेंसरों' के बदले जाने पर भी कामयाबी न हुई तो इस भयंकर पत्र के ऊपर दो 'सेंसर' नियत किये गये। सरकार की तरफ से सदैव के लिये जो 'सेंसर' काम करता था उसके सिवाय प्रान्तीय शासन-सभा के प्रेसीडेएट को भी इस पत्र पर निगरानी रखने की आज्ञा दी गई। पर यह युक्ति भी विशेष फलप्रद सिद्ध नही हुई, क्योंकि मार्क्स इस तरह घुमा-फिरा कर अपने मतलब की बात लिख देता था कि एकाएक कोई उसे पकड़ नही सकता था। अन्त मे सरकार को अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना पड़ा और 'राइनिश ज़ीटुङ्ग' मार्च १८४३ में ज़बर्दस्ती बन्द कर दिया गया।

दूसरा अध्याय

फ्रैंको-जर्मन इयरबुक

सन् १८४३ और ४४ के बीच का समय सम्भवतः मार्क्स के मानसिक परिवर्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण काल था। सन् १८३७ मे वह हेगल का अनुयायी बना और दो वर्ष तक उसने सिवाय हेगल के दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के और कोई काम न किया। सन् १८४३ और ४४ के बीच में वह साम्यवादी बना और दो वर्ष तक उन सिद्धान्तो का मनन करता रहा जिन्होंने उसकी कायापलट कर दी और उसके नाम को सदा के लिये पृथ्वी पर अमर कर दिया। वह किस तरह साम्यवादी बना इस विषय में हमको बहुत ही कम पता है। हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि सन् १८४३ की ग्रीष्म ऋतु से वह

ठीक उसी प्रकार जी-जान से साम्यवाद के अध्ययन में लग गया, जिस प्रकार सन् १८३७ मे हेगल के दर्शन-शास्त्र के अनुशीलन में प्रवृत्त हुआ था। उसने सन् १८४३ में अपने एक मित्र आरनोल्ड रुज के नाम जो चिट्ठियाँ लिखी थीं और जो पेरिस से प्रकाशित होनेवाली 'फ्रेंको-जर्मन इयरबुक' (फ्रांसीसी-जर्मन अब्दकोश) मे प्रकाशित हुई थीं, उनसे मार्क्स के इस परिवर्तन का पता हमको लगता है। मई १८४३ मे कोलोन से भेजे हुये एक पत्र में उसने लिखा है—"वर्तमान समय में प्रचलित व्यवसाय-वाणिज्य की प्रथा, सम्पत्ति की लालसा, और सर्वसाधारण की लूट के फल से समाज के भीतर जैसी भयजनक स्थिति उत्पन्न हो गई है, वैसी स्थिति जन-संख्या की वृद्धि के कारण भी उत्पन्न नहीं हुई है। प्राचीन प्रणाली इस स्थिति का सुधार कर सकने मे असमर्थ है, क्योकि उस प्रणाली मे सुधार कर सकने या नवीन वस्तु उत्पन्न कर सकने की शक्ति ही नही है, वह केवल एक स्थान पर स्थिर रह कर उपभोग करना ही जानती है।"

इसमे सन्देह नहीं कि मार्क्स के ये शब्द केवल भावना-प्रसूत हैं और इनमें उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का कुछ भी आभास नही मिलता। पर कुछ ही महीनों में उसने इतिहास और समाज के मूल सिद्धान्तो की आश्चर्य-जनक जानकारी प्राप्त कर ली। सन् १८४३ के सितम्बर

महीने में उसने अपने एक मित्र को जो चिट्ठी लिखी थी उससे मालूम होता है कि उस समय तक उसने फूरियर, प्राउढन, कैबट, वीटलिङ्ग आदि अनेक साम्यवादियों के ग्रंथ पढ़ डाले थे और वह काल्पनिक-साम्यवाद (१) में न फँसकर राजनैतिक और सामाजिक स्थिति की आलोचना में लगा हुआ था। इसी वर्ष जाड़े की ऋतु मे उसने हेगल के 'न्याय-दर्शन' की आलोचना में एक निबन्ध लिखा जो अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्वतंत्र विचारो से भरा हुआ है। इस निबन्ध मे मार्क्स जर्मनी की राज्यक्रान्ति का प्रश्न उठा कर पूछता है कि वह कौन सा दल है जो जर्मनी का उद्धार कर सकता है। इसके उत्तर मे वह कहता है—"जर्मनी मे क्रान्ति और उसका उद्धार उस दल द्वारा हो सकता है जो गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हो। जो दल वर्तमान धनसत्तावादी समाज के अन्तर्गत होगा, पर जिसका अस्तित्व धनसत्तावादी लोगो से पृथक् रहेगा, वही वर्तमान सामाजिक-प्रणाली(२) को तोड़ सकेगा। टूटने के

(१) काल्पनिक-साम्यवाद Utopian Socialism) से उन साम्यवादी सिद्धान्तों का अर्थ समझा जाता है जिनका आविर्भाव मार्क्स से पहले हुआ था और जिनका आधार वैज्ञानिक तथ्यों पर न होकर समाज के कल्याण की भावना और बड़े लोगों की उदारता पर था। इन सिद्धान्तों में गरीबों के उद्धार के लिये अनेक प्रकार से आदर्श-समाज की रचना की कल्पना की गई थी।

(२) इस पुस्तक में बार-बार 'समाज' और 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे यहां इस शब्द से प्रायः किसी एक जाति

फल से श्रमजीवी दल की उत्पत्ति होगी और उसके द्वारा एक नवीन सामाजिक प्रणाली का उदय होगा। जर्मनी में श्रमजीवी दल की उत्पत्ति उद्योग-धन्धों की वृद्धि के साथ ही होगी, क्योंकि इस दल की उत्पत्ति प्राकृतिक दरिद्रता द्वारा नहीं वरन् कृत्रिम रूप से पैदा की गई दरिद्रता द्वारा होती है। यह दल सामाजिक नियमों के भार से दबे हुए जन-साधारण द्वारा नहीं, वरन् समाज के टूटने के फल से जागृत जन-समूह के द्वारा बनता है। जब कि श्रमजीवी-दल प्रचलित सामाजिक-प्रणाली के भङ्ग होने की घोषणा करता है तो वह वास्तव में गुप्त-रीति से अपने अस्तित्व की सूचना देता है। और जब श्रमजीवी-दल निजी जायदाद (Private Property) के नाश की आकांक्षा प्रकट करता है तो वास्तव में वह एक ऐसे सिद्धान्त को प्रकट करता है जो कि इसी समय समाज के भीतर स्वयमेव उत्पन्न हो रहा है।"

मार्क्स ने यह निबन्ध पेरिस मे लिखा था जहाँ पर वह अक्टोबर १८४३ में अपनी नई दुलहिन को लेकर पहुँचा था। उसका विवाह 'राइनिश जीटुङ्ग' की नौकरी

का अर्थ समझा जाता है। पर इस पुस्तक में यह शब्द बहुत विस्तृत अर्थ में व्यवहार किया गया है। इसमें 'समाज' का अर्थ किसी देश में रहनेवाले समस्त मनुष्यों से है, और सामाजिक प्रणाली से उन रीतियों और प्रथाओं का बोध होता है जिन पर समस्त देश अथवा मनुष्य-समाज निर्भर रहता है।

छोड़ने के पश्चात् जेनी वेस्टफेलन से हो गया था, जो उसकी बाल्यावस्था की सहचरी थी और जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। मार्क्स पेरिस मे अपने मित्र आरनोल्ड रज द्वारा सचालित 'फ्रेंको-जर्मन इयरबुक' का सम्पादन करने आया था। एक पत्र मे जो उसने आरनोल्ड रज को लिखा था, इस 'इयरबुक' के सम्बन्ध मे मार्क्स ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—"यद्यपि इसके भविष्य और अन्तिम स्वरूप का निर्णय करना हमलोगा का काम नही है, तो भी जो कुछ काम हम अपने सहयोग द्वारा कर सकते हैं उसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। मेरा मतलब निर्भयता-पूर्वक वर्तमान सामाजिक प्रथाओं की आलोचना करने से है। निर्भयता की आवश्यकता इसलिये है कि इस काम मे स्वभावतः जो बाधायें पड़ें और अन्य शक्तियों के साथ जो टक्कर लेनी पड़े उससे हम पीछे न हटे। इस लिये मैं किसी प्रचलित मत का समर्थन करने के विरुद्ध हूँ, वरन् मेरी सम्मति है कि हम लोगों को ऐसा मार्ग दिखलायें जिससे वे स्वयं अपने मतो की सचाई झुठाई जान सकें।"

एञ्जिल्स के साथ मित्रता

मार्क्स के सम्पादकत्व में 'फ्रेंको-जर्मन इयरबुक' की केवल एक ही संख्या प्रकाशित हो सकी। इसके पश्चात्

साधनों के अभाव और विपरीत परिस्थिति के कारण उसका अन्त हो गया। इस अन्तिम संख्या में मार्क्स के लेखों के सिवाय और भी कितने ही विद्वानों के लेख प्रकाशित हुये थे। इनमें से एक लेख फ्रेडरिक ऐञ्जिल्स का था, जिसका शीर्षक था 'अर्थ-शास्त्र की सन्तिप्त आलोचना।' सितम्बर १८४४ मे एञ्जिलस मार्क्स से भेंट करने के लिये पेरिस आया। इसी समय से उन दोनों मे ऐसी गहरी मित्रता हो गई जो जन्म भर स्थिर रही और जिसके फल से वे ऐसा काम कर सके कि उनका नाम संसार मे चिरस्मरणीय हो गया।

फ्रेडरिक एञ्जिल्स का जन्म सन् १८२० मे जर्मनी के वर्मेन नामक स्थान में हुआ था। उसका बाप राइनलैण्ड का एक व्यापारी था, और इङ्गलैंड, बेलजियम आदि देशों मे उसके कई कारखाने थे। एञ्जिलस सन् १८४२ में मैनचेस्टर के कपड़े के कारखाने का प्रबन्ध करने के लिये इङ्गलैंड भेजा गया। वहाँ पर उसने इङ्गलैंड के मजदूर-आन्दोलन का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया और इस सम्बन्ध मे एक पुस्तक भी जर्मन भाषा मे प्रकाशित की।

मार्क्स उच्च श्रेणी का विद्वान् था और ज्ञान के समुद्र में उसने बड़ी गहराई तक गोता लगाया था। पर सांसारिक कामों और घर-गृहस्थी के मामलो में वह बिल्कुल कोरा था। इसके विपरीत एञ्जिरस सांसारिक व्यवहार में

सब प्रकार से चतुर था और जिस काम को उसने उठाया उसे प्रशंसनीय ढग से पूरा किया। वह प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक भी था, पर मार्क्स के समान उसको सरस्वती का वह वरदान प्राप्त नहीं हुआ था जिसकी सहायता से ज्ञान-भंडार के गुह्य स्थानों तक पहुँचा जा सकता है और एक नई सृष्टि की रचना की जा सकती है। पर मार्क्स के साथ मित्रता हो जाने और दोनो के मिल कर साम्यवाद का अध्ययन और प्रचार करने से मणि-काञ्चन संयोग हो गया और साम्यवादी-जगत् में एञ्जिल्स ने भी प्राय. मार्क्स के बराबर ही सम्मान प्राप्त कर लिया। मार्क्स अपने जीवन मे कभी काल्पनिक साम्यवाद का अनुयायी नही बना था। उसने आरम्भ से ही हेगल के दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया था जिसके कारण वह किसी प्रचलित मत या सामाजिक सिद्धान्त को, बिना तर्क की कसौटी पर कसे, स्वीकार नहीं कर सकता था। पर एञ्जिल्स सन् १८४४ तक काल्पनिक साम्यवाद मे ही फॅसा हुआ था। मार्क्स ने ही उसे राजनीतिक संघर्ष का गूढ़ अर्थ समझाया और मानवीय सभ्यता के इतिहास, उसकी प्रेरक-शक्ति और उसके मूल-रूप का ज्ञान कराया। एञ्जिल्स ने अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ से ही किया था और उस का 'अर्थशास्त्र की संक्षिप्त आलोचना' शीर्षक जो लेख 'फ्रैंको-जर्मन इयरबुक' मे प्रकाशित

हुआ था, वह एक तेईस साल के नवयुवक के लिये, जिसका अधिकांश समय व्यापार-व्यवसाय में खर्च होता हो, बड़ा प्रशंसनीय था। मार्क्स के प्रभाव से उसकी साम्यवाद विषयक सब भ्रान्तियाँ जाती रहीं। इसके बदले में मार्क्स को एक ऐसा मित्र और शिष्य मिल गया, जिसकी साहित्यिक और आर्थिक सहायता बिना मार्क्स के समान व्यवहार-शून्य और असहाय, पर साथ ही स्वाभिमानी और टेक रखने वाला आदमी संसार मे कुछ न कर पाता और सम्भवतः विदेशों मे उसका जीवन व्यर्थ मे नष्ट हो जाता।

मतभेद और वादविवाद

'फ्रेंको-जर्मन इयरबुक' के बन्द हो जाने पर मार्क्स अपने दूसरे मित्रों सहित पेरिस से प्रकाशित होनेवाले 'वोरवटंस' (अग्रसर) नामक पत्र मे काम करने लगा। इसी समय उसने 'पवित्र-कुटुम्ब' (Holy Family) नामक पुस्तक लिखी, जिसमें एञ्जिल्स ने भी कुछ सहायता दी। यह पुस्तक मार्क्स और एञ्जिल्स इन दोनों महापुरुषों के सम्मिलन का प्रथम फल था। इसके पश्चात् भी मार्क्स ने जितने ग्रंथ लिखे उन सब में एञ्जिल्स का सहयोग प्राप्त हुआ और उनमें से कितने ही दोनों के नाम से प्रकाशित हुए हैं। इस 'पवित्र-कुटुम्ब'

नामकी पुस्तक में मार्क्स ने अपने उस समय तक के जीवन और कार्यों पर दृष्टि डाली है, और अपने पुराने मित्र ब्रुनो बौर तथा अन्य सहयोगियों की, जो हेगल के अनुयायी थे और जिन्होंने मार्क्स को दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में सहायता दी थी, आलोचना की है। इस पुस्तक का उद्देश्य हेगल के अनुयायियो को यह बात समझाना था कि वे एक दूसरे की नकल करके लकीर के फकीर न बनें, और न केवल शुष्क तर्कों मे अपना जीवन नष्ट करें, वरन् अपनी शक्ति का उपयोग समाज की वास्तविक दशा की आलोचना करने मे लगावें। मार्क्स की इस पुस्तक का पढ़ना और समझना सहज काम नही है। इसमे उसने दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र और साम्यवाद सम्बन्धी समस्त ज्ञान को, जिसे वह उस समय तक प्राप्त कर चुका था, संक्षिप्त रूप मे ठूंस-ठूंस कर भर दिया है। इसमे इंगलैण्ड और फ्रांस के भौतिकवाद का बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है और इसका सम्बन्ध उन देशों के साम्यवादी आन्दोलन से दिखलाया गया है। इसमे मार्क्स के मुख्य सिद्धान्त—ऐतिहासिक भौतिकवाद—और पूँजीपतियों तथा श्रमजीवियों के वर्ग-कलह की भी कुछ झलक पाई जाती है।

ब्रुनो बौर ने एक स्थान पर लिखा था—"इस समय तक के संसार के इतिहास मे जिन बड़े-बड़े आन्दोलनों

का पता चलता है वे सब इसी लिये असफल हुये और कोई चिरस्थायी फल न दिखला सके, क्योंकि उनमें साधारण जन-समूह ने भाग लिया था।" ब्रुनो वौर का वास्तविक आशय यह था कि संसार मे जो शक्ति काम करती है वह विचारों द्वारा ही उत्पन्न होती है, और इसलिये साधारण जनता, जो प्रायः विचारशून्य होती है, कोई महत्व का काम कर सकने में असमर्थ है। इसके जवाब में मार्क्स ने लिखा है—"संसार मे आजतक जितने स्मरणीय आन्दोलन हुए हैं, उन सब का आधार जन-समूह का सहयोग ही रहा है। जितनी हद तक ये आन्दोलन जन-समूह के हित से सम्बन्ध रखते थे, उतनी ही हद तक उनका प्रचार हो सका। जो आन्दोलन जन-समूह के हित से सम्बन्ध नहीं रखते, उनके द्वारा कुछ समय के लिये थोडा बहुत उत्साह भले ही उत्पन्न हो जाय, पर उनसे कोई स्थायी फल प्राप्त नहीं हो सकता। जो आन्दोलन जनता के हित से जितनी दूर रहता है उसका प्रचार भी उतना ही कम होता है।"

इन्हीं दिनों, अर्थात् सन् १८४४ के लगभग मार्क्स पेरिस में रहने वाले जर्मन मजदूरो से मेल-मुलाकात करने लगा। ये लोग तरह तरह के साम्यवाद और अराजकतावाद के सिद्धान्तों को, जो उन दिनो प्रचलित थे, मानते थे। मार्क्स उनको अपना अनुयायी बनाना चाहता था।

मार्क्स प्राय: हेन से भी मिला करता था, जो जर्मनी से देशनिकाले की सज़ा पानेवालो में सबसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति था और एक बहुत बड़ा कवि भी था। कहा जाता है कि उसने अपना सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'विएटर मार्चेन' कार्ल मार्क्स के कहने से ही लिखा था। फ्रांस के प्रसिद्ध साम्यवादी नेता प्राउढन से मार्क्स की बड़ी मित्रता थी और वह अनेक बार उससे बातचीत करते हुये तमाम रात बिता देता था। मार्क्स ने उसे हेगल के तर्कशास्त्र के सम्बन्ध मे बहुत सी बातें बतलाई थीं। सन् १८४० में प्राउढ़न 'सम्पत्ति क्या है' (What is Pıoperty) नामका ग्रंथ लिखा था जिसमें हेगल की तर्क-प्रणाली से कुछ सहायता ली गई थी। इसलिये मार्क्स को आशा थी कि वह उसे अपने मत का अनुयायी बना सकेगा।

इस प्रकार मार्क्स एक तरफ अपने मत के प्रचार का उद्योग कर रहा था और दूसरी तरफ इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस के अर्थशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों, इतिहास और साम्यवादी साहित्य का अध्ययन भी बड़े परिश्रम और उत्साह के साथ करता जाता था। अब वह किसी विपय मे अस्थिरता या अनिश्चितता नहीं प्रकट करता था, क्योंकि अब उसके सिद्धान्त परिपक्क और दृढ़ हो चुके थे और वह किसी दूसरे के आधार पर न रह कर स्वयं अपनी खोज और अनुशीलन द्वारा अपनी प्रणाली का निर्माण कर

रहा था। इन सब कामों के साथ उसने जर्मनी को भी नहीं भुलाया था और वह बराबर वहां की निरंकुश सरकार के साथ क़लम की लड़ाई लड़ता रहता था। जर्मनी की सरकार ने इस विषय में फ्रांस के अधिकारियों को लिखा और फल-स्वरूप मार्क्स और अन्य जर्मन साम्यवादियों को फ्रांस से निकल जाने की आज्ञा दी गई। मार्क्स अपना बँधना-बोरिया लेकर बेलजियम की राजधानी ब्रुसेल्स के लिये रवाना हुआ और जनवरी १८४५ से फरवरी १८४८ तक, जब कि योरोप के सब देशों में क्रान्ति की आग जलने लगी, वह बिना किसी विशेष बाधा के वहाँ निवास करता रहा। ब्रुसेल्स में उसका समय विशेष रूप से अर्थशास्त्र के अध्ययन में व्यतीत होता था, जिसके लिये एञ्जिल्स ने अपना अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकालय उसके सुपर्द कर दिया था। वह कभी कभी 'जर्मन-ब्रुसेल्स न्यूज' नामके समाचार-पत्र में लेख भी दिया करता था। यहीं पर सन् १८४७ में उसने 'दर्शन-शास्त्र की दरिद्रता' (Poverty of Philosophy) नामक पुस्तक लिखी जिसमें प्राउढन की 'दरिद्रता-दर्शन' (Philosophy of Poverty) नामक पुस्तक का खण्डन किया गया था। यह घटना मार्क्स के जीवन के एक विशेष परिवर्तन की सूचक है और इस लिये इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करना आवश्यक है।

प्राउढन से मतभेद

मार्क्स का 'दर्शनशास्त्र की दरिद्रता' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस आलोचनापूर्ण ग्रन्थ में उसने केवल प्राउढन के साथ ही अपने मत का अन्तर नहीं दिखलाया है वरन् सभी काल्पनिक साम्यवाद के अनुयायियों का खण्डन किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राउढन उस समय समस्त योरोप में साम्यवाद का सबसे बड़ा ज्ञाता समझा जाता था और मार्क्स की उसके साथ घनिष्ठ मित्रता थी। मार्क्स ने अपन मित्र की पुस्तक का खण्डन बड़ी निष्ठुरता के साथ किया और उसे आक्षेपों द्वारा छिन्न-भिन्न कर डाला। यह बात साधारणत सौजन्य के विपरीत जान पड़ती है, पर इस प्रकार की बातें उस जमाने मे प्राय. हुआ करती थी और बुरी नहीं मानी जाती थीं। मार्क्स का स्वभाव था कि वह जिस बात को अपने मन में सचाई और श्रमजीवियों के हित के विरुद्ध समझ लेता था, उसका बिना किसी तरह के व्यक्तिगत विचार के घोर विरोध करता था। वह ऐसे विपयो में किसी प्रकार का समझौता करना पाप समझता था।

यहाँ पर प्राउढन के विषय में भी कुछ जान लेना असंगत न होगा। उसका पूरा नाम पिरें जोसेफ प्राउढन था और जन्म १८०६ में हुआ था। वह कम्पोजीटर का

काम करता था और उसने अपने परिश्रम और अध्यवसाय से ही लैटिन, ग्रीक, गणित और विज्ञान का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसने दर्शन, अर्थशास्त्र और इतिहास के भी बहुत से ग्रंथ पढ़े थे। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिको जैसे काण्ट, हेगल, फोरवेक आदि के ग्रंथों का ज्ञान भी, उन पुस्तको के फ्रांसीसी अनुवादों द्वारा और पेरिस में रहनेवाले जर्मन विद्वानो की संगति से उसने प्राप्त कर लिया था। श्रमजीवी दल मे उत्पन्न होने वाले समाज-शास्त्रज्ञों में वह एक अत्यन्त प्रतिभाशाली तथा योग्य व्यक्ति था। पर किसी विश्वविद्यालय में या अन्य उपाय से क्रमबद्ध शिक्षा न पाने के कारण उसे वह शक्ति प्राप्त नहीं हुई थी जिसके द्वारा विद्या का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है और अपने विचारों को समुचित रीति से प्रकट किया जा सकता है।

मार्क्स ने अपनी पुस्तक में सबसे पहले प्राउढन की पुस्तक में प्रतिपादित समस्त आर्थिक तत्वो का वर्णन किया है। इसके पश्चात् उसने अनेक ग्रंथो से अवतरण देकर सिद्ध किया है कि वे सब तत्व और उनके द्वारा निकाले हुए फल या तो फ्रांसीसी और अङ्गरेजी अर्थ-शास्त्रों के अधूरे ज्ञान से लिखे गये हैं या अङ्गरेज कम्यू-निस्ट लेखकों के ग्रंथों से ज्यों के त्यों नक़ल कर लिये गये हैं। मार्क्स की पुस्तक के इस भाग से ज्ञात होता है कि

उसे अर्थशास्त्र के ग्रन्थों का कितना विस्तृत ज्ञान था। इसके पश्चात् उसने प्राउढन की युक्तियो के जवाब में अपनी तरफ से नई युक्तियां दी हैं। इससे मार्क्स का उद्देश्य यही था कि उस समय के साम्यवादी काल्पनिक साम्यवाद को त्याग कर वस्तुस्थिति के अनुसार विचार करना सीखें। वह लिखता है :—

"प्राउढन ने यह तो अच्छी तरह समझ लिया है कि, मनुष्य पैदावार के नियमो के वशवर्ती होकर अनेक प्रकार की वस्तुएँ तैयार करते हैं। पर इस बात को वह नहीं जानता कि जिस प्रकार ये वस्तुऐं मनुष्य द्वारा बनाई जाती हैं उसी प्रकार इन पैदावार सम्बन्धी नियमों को भी मनुष्य ही बनाते हैं। समाज मे प्रचलित नियमों अथवा रिवाजों का उत्पादक-शक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। नई तरह की उत्पादक-शक्ति का ज्ञान होने पर मनुष्य वस्तुऐं तैयार करने के ढंग को बदल देता है। वस्तुऐं तैयार करने के ढंग या जीविका प्राप्त करने के मार्ग में परिवर्तन हो जाने से सामाजिक नियमों में भी परिवर्तन हो जाता है। हाथ द्वारा कपड़े आदि वस्तुऐं तैयार करने के यंत्रों का आविष्कार होने पर सरदारों या जमींदारों की समाज (Feudal Society) की उत्पत्ति हुई थी। उसके पश्चात् जब इञ्जिन द्वारा यंत्रों को चलाने का ढंग निकल आया तो जमींदारो की समाज नष्ट होकर कारखानेवालों की

समाज उत्पन्न हो गई। मनुष्य पैदावार के साधनों के अनुकूल सामाजिक नियमों की रचना करते हैं, और फिर वे ही मनुष्य सामाजिक नियमों के अनुकूल सिद्धान्तों, आदर्शों और श्रेणियो का निर्माण करते हैं। इस प्रकार ये सिद्धान्त, भावना आदि भी उसी प्रकार सामयिक होते हैं, जिस प्रकार उनको उत्पन्न करनेवाले सामाजिक नियम सामयिक होते हैं। ये दोनों इतिहास की परिवर्तनशील वस्तुएं हैं। आजकल हम जिस युग में निवास कर रहे हैं उसमें उत्पादक-शक्ति की वृद्धि, प्रचलित सामाजिक नियमों का विनाश और नवीन भावनाओं की उत्पत्ति अविराम गति से हो रही है।"

यहां पर सबसे अधिक विचारणीय विषय यह है कि मार्क्स के मत से वर्तमान क्रान्ति-युग की उत्पत्ति का कारण उद्योग-धन्धों तथा कारख़ानों की वृद्धि है। साथ ही वह यह भी बतलाता है कि दुनिया में सामाजिक संगठन के जो भिन्न-भिन्न रूप देखने में आते हैं उनका कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की श्रम-प्रणाली है। अथवा जैसा उसने 'कैपिटल' में लिखा है:— 'विभिन्न सामाजिक स्वरूपों में जो भेद देखने मे आता है उसका कारण उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ नहीं है वरन् वह प्रणाली है जिससे वे उत्पन्न होती हैं।" मार्क्स का आशय यह है कि समस्त सामाजिक भावनायें और प्रणालियाँ एक विशेषकाल के लिये परिमित

रहती हैं और उनका आधार पैदावार के प्रचलित तरीके पर रहता है। उसके मत से वे लोग मूर्ख हैं जो इस प्रकार की सामाजिक प्रणालियों या रीतियों को अनादि समझते हैं अथवा उनके परिवर्तन को नाश अथवा हानि का कारण समझते हैं।

तीसरा अध्याय

आन्दोलन-युग

योरोप में क्रान्तिकारी भाव की वृद्धि

मार्क्स क्रान्तिवादी था। वह केवल इसी दृष्टि से क्रान्ति-वादी नहीं था कि उसने एक नवीन सामाजिक प्रणाली का प्रचार किया था अथवा वह एक नवीन आर्थिक सिद्धान्त का जन्मदाता था। वरन् सर्वसाधारण क्रान्तिवादी कहने से जो अर्थ समझते है उसके अनुसार वह बल-प्रयोग का समर्थक था और इसके लिये फ्रांस की राज्यक्रांति के आरम्भिक वर्षों की कार्य-प्रणाली को आदर्श समझता था। जन-समूह के अन्तःप्रदेश में क्रान्ति का जो गम्भीर-निनाद होता रहता है, उसको सुनने के लिये वह सदा कान खोले रहता था। जिस काल मे वह अपने समाज-सम्बन्धी

नवीन सिद्धान्तों का मसाला संग्रह कर रहा था और उसके दिमाग़ में उनका एक ढांचा तैयार हो रहा था, उसी काल मे योरोप का वातावरण क्रान्ति की भावना से व्याप्त हो रहा था। इङ्गलैंड मे सन् १८४२ मे पहली वार श्रमजीवियों की विशाल हड़ताल हुई और वह इतनी वढ़ी कि उसके सार्वजनिक हड़ताल का रूप धारण करने के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। सन् १८४३ और ४४ मे ऐसा जान पड़ता था कि अव इङ्गलैंड मे राज्यक्रांति होने में कुछ भी विलम्ब नही है। सिलेशिया के कपड़ा बुननेवालो ने सन् १८४४ मे वलवा खड़ा कर दिया। १८४५ और ४६ में जर्मनी मे साम्यवाद का ज़ोर वहुत बढ़ गया और उद्योग-धन्धों के केन्द्र स्थानों से साम्यवादी अख़वार प्रकाशित होने लगे। फ्रांस में तो साम्यवादी सिद्धान्तो, साम्यवादी उपन्यासों और साम्यवादी अख़बारों की वाढ़ आ गई। योरोप में चारों ओर कम्यूनिज्म का विकराल भूत मुँह वाये खड़ा दिखलाई पड़ने लगा।

इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण क्या था यह समझना कुछ कठिन नही। जैसे-जैसे योरोप में कल-कारख़ानों की वृद्धि होने लगी और रेल-तार आदि का शीघ्रतापूर्वक निर्माण होना आरम्भ हुआ, वैसे-वैसे ही वहां की साम्पत्तिक दशा भी वदलती गई और एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। जन-साधारण मे दरिद्रता बढ़ने लगी और श्रम-

जीवी लोग थोड़ी मजदूरी और वेतन-सम्बन्धी कठोर नियमों के विरुद्ध अधिकाधिक जोर के साथ आन्दोलन करने लगे। उन दिनों उनका जीवन निर्वाह हो सकना भी कठिन हो गया था और इस कारण उनमें असंतोष बढ़ रहा था। उस समय इङ्गलैंड में यह आवाज़ उठ रही थी कि—"कारखानों की वृद्धि के साथ दरिद्रता की भी वृद्धि होगी।" साथ ही यह भी घोषित किया जाता था—"जनता को जितने अधिक राजनैतिक अधिकार मिलेंगे उतनी ही जल्दी उद्धार होगा।" जो कोई भी उस समय इङ्गलैंड और फ्रांस मे निवास करता था और साम्यवाद से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता था उसको स्वयमेव यह जान पड़ता था कि वहां पर राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति का आगमन हो रहा है।

मार्क्स को इस क्रान्ति का ज्ञान बहुत पहले से हो गया था। मार्च १८४३ मे उसने अपने मित्र रज के नाम हालैण्ड से एक पत्र भेजा था जिसमें भावी क्रान्ति का जिकर किया गया था और लिखा था कि जर्मनी के फ्रेडरिक विलियम की सरकार क्रान्ति-मार्ग पर अग्रसर हो रही है। रज को उसकी बातों से बड़ा आश्चर्य हुआ और उन पर उसने विश्वास भी नहीं किया। पर कुछ समय पश्चात् मार्क्स का अनुमान अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। यह उस समय की बात है जब

कि मार्क्स ने साम्यवाद का अध्ययन शुरू भी किया था। जैसे-जैसे उसका अध्ययन अधिक होता गया और वह वर्ग-कलह (Class Wai) के सिद्धान्त को समझता गया, वैसे-वैसे उसका विश्वास दृढ़ होता गया कि कम्यूनिज्म के आन्दोलन का अन्तिम परिणाम श्रमजीवी-क्रान्ति होगा और उसके फल से शासन-सत्ता मजदूरों के हाथ मे चली जायगी।

इस सम्बन्ध मे काल्पनिक साम्यवाद के अनुयायियों का मत यह था कि मौजूदा राज्य-शासन से बिल्कुल अलग रहा जाय और स्वतन्त्र रूप से साम्यवादी पचायती शासन क़ायम करने की चेष्टा की जाय। इस मत के माननेवाले नैतिक और धार्मिक भावनाओ से प्रेरित होकर राज्य को घृणा की दृष्टि से देखते थे, जैसे कि बहुत से साधु-सन्यासी सांसारिक बातो से विराग रखते हैं। पर मार्क्स शक्ति के भिन्न भिन्न स्वरूपो को अच्छी तरह समझता था और उसके मत से राज्य मे एक ऐसी शक्ति थी जिसको दूसरे स्वरूप मे सामाजिक क्रान्ति का बड़ा प्रबल शस्त्र बनाया जा सकता था।

मार्क्स के सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के क्रान्तिकारी-युग की स्वाभाविक उपज थे। मार्क्स ने सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त को पूर्णता तक पहुँचाया और स्वय ही उसको कार्य-रूप में परिणत किया। उसके

समस्त विचारों और भावनाओं का आधार सामाजिक क्रान्ति थी।

कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो

पेरिस की भाँति ब्रुसेल्स मे भी मार्क्स जर्मन मज़दूरों से भेंट किया करता था और व्याख्यानो तथा बातचीत द्वारा उनको अपने सिद्धान्त समझाया करता था। इस काम मे एञ्जिल्स से उसे बहुत अधिक सहायता मिलती थी, क्योंकि इस काम के लिये उसके पास अधिक समय और अधिक रुपया था। वह मार्क्स के मत का प्रचार पेरिस, कोलोन, एबरफील्ड आदि अनेक नगरो के जर्मन मज़दूरों में करता रहता था।

ब्रुसेल्स मे मार्क्स और उसके मित्र 'लीग आफ कम्यूनिस्ट' (कम्यूनिस्ट सघ) मे प्रविष्ट हुये। इस सस्था का नाम आरम्भ मे 'लीग आफ जस्ट' (न्याय-सघ) था और इसकी स्थापना सन् १८३६ में पेरिस में रहनेवाले जर्मन मज़दूरों ने की थी। कुछ ही समय में इसकी शाखायें योरोप के अनेक देशो मे क़ायम हो गईं। सन् १८४० मे इसका प्रधान कार्यालय लंदन मे स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत जितनी शाखायें थी उनका पारस्परिक सम्बन्ध 'कम्यूनिस्ट-पत्र-व्यवहार-कमेटी' द्वारा कायम रखा जाता था। पेरिस और ब्रुसेल्स की शाखाओं

ने लंदन की बड़ी कमेटी का ध्यान मार्क्स की तरफ आकर्षित किया और जनवरी १८४७ में जोसफ़ मोल नाम का एक सदस्य मार्क्स के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्रूसेल्स भेजा गया। इसके फलस्वरूप मार्क्स इसमें सम्मिलित हो गया और उसी समय इसका नाम 'लीग आफ़ जस्ट' से बदल कर 'लीफ आफ़ कम्यूनिस्ट' कर दिया गया। इस संस्था के सम्बन्ध में एञ्जिल्स, जो उसका सदस्य था, एक लेख में कहता है :—

"मार्क्स के सम्मिलित होने से पहले यह एक प्रकार की षड्यन्त्रकारी सभा थी। मार्क्स के प्रवेश करते ही इसका स्वरूप बदल गया और यह कम्यूनिस्ट आन्दोलन के प्रचार का एक साधन बन गई। यद्यपि इसके पश्चात् भी बहुत दिनो तक परिस्थिति के कारण इसके अस्तित्व को गुप्त रखा गया, पर इसके संगठन को बिल्कुल सरल कर दिया गया और उसमे से षड्यन्त्रकारीपन की सब बातें निकाल दी गई। जहाँ कहीं भी जर्मन मजदूरो के क्लब स्थापित थे वहाँ इस संस्था का भी अस्तित्व था। इंगलैण्ड, बेलजियम, फ्राँस, स्वीजरलैण्ड और जर्मनी के भी अधिकांश क्लबों के प्रधान कार्यकर्ता इस संघ में सम्मिलित थे, और इसने जर्मन मजदूरो की जागृति मे जो काम किया वह बड़ा महत्वपूर्ण था। यह संस्था मजदूरों मे अन्तर्राष्ट्रीयता का भी प्रचार करती थी और कितने ही

इंगलैण्ड, बेलजियम, हंगरी और पोलैण्ड के मजदूरों को इसमें सम्मिलित किया गया था। यह सघ अनेक अवसरों पर मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय सभायें भी किया करता था जो प्रायः लंदन मे होती थीं।"

इस सघ की पहली कांग्रेस लंदन में सन् १८४७ की ग्रीष्म-ऋतु मे हुई। उसमें शामिल होनेवाले प्रतिनिधियों में एञ्जिल्स और विलियम वोल्फ भी थे। यह विलियम वोल्फ भी एञ्जिल्स के समान मार्क्स का अन्तरङ्ग मित्र था और आजन्म उसकी सहायता करता रहा। दूसरी कांग्रेस मे, जो नवम्बर १८४७ में हुई, शामिल होने के लिये मार्क्स भी लंदन पहुंचा। इस कांग्रेस मे निश्चय किया गया कि संघ के उद्देश्यो का एक घोषणा-पत्र तैयार करके प्रकाशित किया जाय। इस कार्य का भार मार्क्स और एञ्जिल्स को सौंपा गया और उन्होंने जो घोषणा-पत्र बनाया वही आज 'कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है।

यह मेनीफेस्टो चार मुख्य भागों में बँटा हुआ है। (१) मध्यम वर्ग (Middle Class) के विकास का इतिहास, उसके लक्षण, उसके भावरूप और अभावरूप अथवा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (Positive and Negative) फल अर्थात् आधुनिक पूँजीवाद और श्रमजीवी दल की उत्पत्ति। (२) वर्ग-कलह का सिद्धान्त और श्रमजीवी दल के कार्य। (३) कम्यूनिस्टों का क्रान्ति के

लिये उद्योग। (४) दूसरे साम्यवादी सिद्धान्तकारों की आलोचना। इनमें से अन्तिम भाग का महत्व बहुत समय से जाता रहा है, क्योंकि जिन अन्य सिद्धान्तवालो की मार्क्स ने आलोचना की है अब उनका नाम-निशान भी नहीं है। इसलिये यहाँ पर हम तीन विभागों की ही विवेचना करेंगे।

(१) वर्तमान समय मे योरोप का प्रभुत्व जिस पूँजीपतियो के दल के हाथ मे है उसकी उत्पत्ति मध्यम-श्रेणी से हुई है। इस मध्यम-श्रेणी का उद्भव सरदारो या जमींदारों के सत्ताकाल में हुआ था और इसका निवास-स्थान मुख्यतः प्राचीन काल के उन नगरों और कस्बों में था जहाँ पर सर्वसाधारण की आवश्यकता की चीजें हाथ से बनाई जाती थीं। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी में योरोपवाला के भूगोल-सम्बन्धी ज्ञान की जो वृद्धि हुई और उसके कारण व्यापार की जो उन्नति हुई उसके फल से इस श्रेणीवालों का कार्य-क्षेत्र बढ़ने लगा। इसने उद्योग-धन्धो के तरीके मे क्रान्ति उपस्थित कर दी। इसने प्राचीन आर्थिक और सामाजिक बंधनों को तोड़ डाला। इसने सरदारों की सत्ता, दस्तकार लोगो की सहयोग-समितियो, छोटे छोटे स्वाधीन शासनो और एकतंत्र राज्य-प्रणाली को उलट दिया, और इनके स्थान में आधुनिक उद्योग-धन्धों, विशाल रूप में सगठित कारबार, वोट (मत)

द्वारा शासन, राष्ट्रीय सरकार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थापना की। यह मध्यम-श्रेणी ही थी जिसने दिखलाया कि मनुष्य कहाँ तक उन्नति कर सकता है। इस मध्यम-श्रेणी ने ऐसे-ऐसे काम करके दिखलाये जिनके सामने मिश्र के पिरामिड, चीन की दीवार और रोमन कैथलिकों के महाकाय गिर्जाघर भी छोटे दिखलाई पड़ते हैं। इसने आवागमन की इतनी अधिक वृद्धि की है कि उसके आगे प्राचीन जातियो का देश-परिवर्तन और धर्मयुद्ध (क्रुसेड) के लिये जानेवाले असख्य ईसाइयो के दल भी कुछ नही जान पडते। यद्यपि अभी इस श्रेणी की प्रधानता को केवल सौ वर्ष (यह १८४७ में लिखा गया था) वीते हैं, तो भी इसी बीच मे इसने वस्तुओं की उत्पत्ति और उत्पत्ति के साधनों को इतना अधिक वढ़ा दिया है कि उसके सामने पिछले समस्त युगों की उन्नति मिलकर भी कम जान पड़ती है। प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार; मशीनों का अविष्कार; रसायन-शास्त्र का उद्योग-धन्धो और खेती-वारी मे उपयोग; जहाज, रेल, तार, पूरे महाद्वीपो की सफाई करके उनको मनुष्यों के निवास योग्य वनाना, नदियों को जल-यात्रा के योग्य वनाना आदि मध्यम-श्रेणी के भावरूप या प्रत्यक्ष कार्य हैं। इन कार्यों से जो अभाव-रूप या अप्रत्यक्ष फल हुये हैं वे ये हैः—श्रमजीवी दल की उत्पत्ति; असीम, अनियन्त्रित और अनियमित आर्थिक

दशा; व्यापार-संकट; अधिक पैदावार और धन के अनावश्यक सग्रह् के फल से उत्पन्न दरिद्रता तथा अकाल; और मजदूरो का रक्तशोषण, जिनको श्रम के बदले मे केवल इतना दिया जाता है जिससे वे किसी प्रकार प्राण-रक्षा कर सकें। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान परिस्थिति में जितनी गुंजायश है उसकी अपेक्षा उत्पादक-शक्ति बहुत उन्नत और बढ़ी हुई है। अर्थात् प्रचलित आर्थिक-पद्धति द्वारा जितना माल तैयार हो सकता है उतना वर्तमान जायदाद-सम्बन्धी नियमों के कारण खर्च नहीं हो सकता। इस प्रकार आर्थिक-शक्ति रूपी नदी का वेग निजी जायदाद सम्बन्धी क़ानूनों के बाँध से टकरा रहा है। माल मौजूद होने पर भी खच करनेवालो का अभाव होना कुछ आश्चर्य-जनक जान पड़ता है, पर यह बिल्कुल सच है। आजकल सम्पत्ति के अधिकार-सम्बन्धी जो नियम प्रचलित हैं उनके अनुसार समस्त वस्तुओ पर पूँजीपतियों का अधिकार रहता है और वे श्रमजीवियो को कम से कम चीज खर्च करने को देते है। फल-स्वरूप पूँजीपतियां और श्रम-जीवियों मे कलह होने लगता है और श्रमजीवी विद्रोह करने लगते हैं। धीरे-धीरे मजदूर अपना संगठन करने के लिये ट्रेड-यूनियनों की स्थापना करने लगते हैं, उनमें अपने दल की भावना जागृत होने लगती है, और इस प्रकार राज-नीतिक क्षेत्र में मजदूर पार्टी का जन्म होने लगता है।

(२) जिस प्रकार आजकल मनुष्य-समाज पूँजीवाद के सिद्धान्त पर स्थापित है इसी प्रकार प्राचीन काल में समाज की रचना सरदारी या जमींदारी और उससे भी पहले दासत्व के आधार पर थी। इन सब कालों मे समाज दो वर्गों या दलों में बंटी हुई थी; जैसे स्वतंत्र नागरिक और गुलाम; सरदार या जमींदार और किसान; अथवा पूँजीपति और मजदूर या श्रमजीवी। ये दोनों वर्ग या दल सदैव एक दूसरे के विरुद्ध रहते आये है। इससे सिद्ध होता है कि जब से निजी जायदाद की प्रथा चली है और उसके फल से मनुष्य-समाज दो वर्गों में बट गई है, तब से मनुष्य जाति का इतिहास वर्ग-कलह का इतिहास है। यह कलह कभी प्रत्यक्ष होता है और कभी अप्रत्यक्ष, और इसके फल से या तो नवीन सामाजिक प्रणाली, नवीन स्वामित्व की प्रथा, नवीन आर्थिक नियमो का जन्म होता है या दोनों वर्गों का लड़ते लड़ते नाश हो जाता है। ये दोनो विरोधी दल भिन्न भिन्न प्रकार के आर्थिक स्वार्थ, स्वामित्व की प्रथा, आदर्श और सभ्यता के समर्थक होते है। प्राचीन काल में योरोप के शहरों में निवास करनेवाले कारीगर और बनिये आदि सरदारो और जमीदारों से इसलिये लड़े थे कि उनको व्यक्तिगत जायदाद का अधिकार, कारीगरी और व्यापार की स्वाधीनता, निजी सम्पत्ति को इच्छानुसार व्यय करने

की स्वतंत्रता, और राष्ट्रीय सरकार प्राप्त हो जायँ।*

वर्तमान समय में मध्यम-श्रेणी या पूँजीपति दल की विजय और सफलता के कारण समस्त सम्पत्ति दिन पर दिन थोड़े से लोगों के हाथों में चली जा रही हैं। श्रम-जीवियों के पास कुछ भी जायदाद नहीं है और न उनका अपने देश की सम्पत्ति में कुछ हिस्सा है। दूसरी तरफ पूँजी की उत्पत्ति दिन पर दिन पारस्परिक सहयोग पर निर्भर होती जाती है और पूँजी एक सम्मिलित वस्तु बनती चली जाती है। इस कारण श्रमजीवी-दल अब व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये झगड़ा नहीं करता वरन् वह इसलिये लड़ रहा है कि समाज जो कुछ माल पैदा या तैयार करता है उसको उपयोग मे लाने—उसको बाँटने का अधिकार समाज के ही हाथ में रहे। इस प्रकार मध्यम-श्रेणी ने एक

*भारतवर्ष का देशी रियासतों में और खास कर राजपूताने की रियासतों तथा जागीरों में यह दशा प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। इस दृष्टि से वहा के निवासी योरोप के मध्यकालीन युग में पड़े हैं और संसार की वर्तमान स्थिति मे कम से कम तीन सौ वर्ष पिछड़े हुये हैं। अगर समस्त भारत की दशा की इस कसोटी पर जाच की जाय तो मालूम होगा कि हमारा देश आर्थिक और सामाजिक विकास की दृष्टि से योरोप की अपेक्षा कम से कम सौ वर्ष पिछड़ा हुआ है। इस कारण सम्भव है कि हमारे पाठकों को मार्क्स के दिये हुये उदाहरणों में कुछ भूल जान पड़े। यद्यपि मार्क्स के सिद्धान्त सर्वव्यापी हैं पर उसने जो उदाहरण दिये हैं वे विशेषत. योरोप के ही हैं।

ऐसा दल पैदा कर दिया है जिसका उद्देश्य उस श्रेणी के स्वामित्व को नष्ट करके सार्वजनिक स्वामित्व की प्रथा को प्रचलित करना है।

(३) श्रमजीवी-दल के इस संग्राम में कम्यूनिस्ट सब से आगे चलनेवाले सिपाही हैं। वे अपने दल का ज्ञान रखने वाले श्रमजीवियो को उपदेश भी देते है और उनके लिये लड़ कर अपना बलिदान भी करते हैं। दूसरी मजदूर पार्टियो के समान कम्यूनिस्टो की कोई अलग पार्टी नहीं होती। समस्त मजदूरो के स्वार्थ को छोड़ कर कम्यूनिस्टों का कोई अलग स्वार्थ नही होता। और न कम्यूनिस्टों के इस प्रकार के कोई अलग सिद्धान्त होते हैं जिनके अनुसार वे श्रमजीवी आन्दोलन को नये साँचे मे ढालना चाहते हों। उनका उद्देश्य श्रमजीवियो का एक दल मे संगठित करना, पूँजीपतियो के प्रभुत्व को नष्ट करना, और राजनीतिक सत्ता को श्रमजीवियो के हाथो में दिलाना ही है। वे सब देशो मे सब तरह के क्रान्तिकारी आन्दोलनो का समर्थन करते हैं, जोकि प्रचलित सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली के विरुद्ध किये जा रहे हो। इन सब आन्दोलनो मे वे विशेष जोर सम्पत्ति के प्रश्न को (या रोटी के सवाल को) आन्दोलन का मूल-आधार बनाने पर देते हैं, चाहे उस देश का आर्थिक विकास कितना भी कम या ज्यादा क्यो न हुआ हो। इसके सिवाय कम्यूनिस्ट

सब देशों के मजदूरों के राजनीतिक दलों मे एकता स्थापित कराने का भी उद्योग करते हैं। वे अपने विचारो और उद्देश्यो को छुपाना व्यर्थ समझते हैं। वे डंके की चोट कहते हैं कि उनका लक्ष्य तभी सिद्ध होगा जब कि समाज की समस्त प्रचलित व्यवस्थाओ को बलपूर्वक लौट दिया जाय। शासन का अधिकार जिस श्रेणी के हाथ मे है वह कम्यूनिस्ट-क्रान्ति के नाम से कॉपती है, पर श्रमजीवियों का इससे कुछ भी नुकसान नही हो सकता सिवाय इसके कि उनकी गुलामी की जंजीरें टूट जांय। उनके सामने समस्त संसार जीतने के लिये पड़ा है। समस्त संसार के श्रमजीवियो ! एकता के सूत्र में बंध जाओ !

समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह मेनीफेस्टो तत्कालीन स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिये प्रायः सर्वाङ्गपूर्ण लेख है। प्रबल मनोभाव और असाधारण ज्ञान-शक्ति का सम्मेलन इसमे दिखलाई पड़ता है। एक परम शक्तिशाली और उर्वर मस्तिष्क का वर्षों का अध्ययन और एक परम कर्मशील बुद्धि के भंडार की प्रतिभा का निचोड़ इसमें भरा हुआ है। जर्मनी के प्रधान श्रमजीवी नेता लिबनेट ने सच कहा है:—"अगर मार्क्स और एञ्जिलस ने इसके सिवाय कोई अन्य काम न किया होता, अगर वे उसी दिन भीषण क्रान्ति के उदर में समा गये होते, जिस दिन उन्होंने वज्र-निनाद स्वर से संसार में इस भावी स्वप्न अर्थात् मेनीफेस्टो

को प्रकट किया था, तो भी वे संसार मे अजर अमर हो जाते ।"

१८४८ की राज्य-क्रान्ति

कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो फरवरी १८४८ के आरम्भ में प्रकाशित हुआ था, और २२ फरवरी से योरोप मे क्रान्ति की आग धॉय-धॉय करके जलने लगी। फ्रांस मे पुराने शासन को लौट दिया गया और उसकी जगह एक अस्थायी सरकार क़ायम हुई। जर्मनी मे जगह जगह राज-सत्ता के विरुद्ध उपद्रव होने लगे। उधर बेलजियम की राजधानी ब्रूसेल्स में जनता ने प्रजातंत्रवादियों पर आक्रमण करके उनको अपमानित किया। इस झगड़े मे मार्क्स को भी हानि उठानी पड़ी। अब तक जर्मन सरकार के अनेक बार आपत्ति करने पर भी बेलजियम के अधिकारियो ने उसको अपने यहाँ रहने दिया था, पर अब उनको भय मालूम होने लगा और मार्क्स को गिरफ़ार करके बेलजियम से बाहर निकाल दिया गया। पर इससे उसको विशेष कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वयम् ब्रूसेल्स छोड़ पेरिस जाने की तैयारी कर रहा था। उन दिनो पेरिस मे जो अस्थायी सरकार स्थापित हुई थी उसका एक सदस्य, जिसका नाम फ्लोकन था और जो 'रिफार्मर' (सुधारक) नामक पत्र का सम्पादक था, मार्क्स का मित्र था। उसने मार्क्स के पास नीचे लिखा पत्र भेजा :—

पेरिस, १ मार्च १८४८

वीर और विश्वस्त मार्क्स,

फ्रांस के प्रजातंत्र राज्य की भूमि स्वतंत्रता के प्रत्येक मित्र को आश्रय देने को तैयार है। अत्याचारियों ने तुमको देशनिकाले की आज्ञा दी है। स्वाधीन फ्रांस तुम्हारे लिये अपना दरवाजा खोलता है—तुम्हारे लिये और उन सब लोगों के लिये जो मनुष्य-मात्र के उद्धार के पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये लड़ रहे हैं। इस सम्बन्ध मे फ्रांसीसी सरकार का प्रत्येक कर्मचारी अपना कर्तव्य भलीभांति समझता है। भ्रातृ-भाव पूर्वक नमस्कार!

फर्डिनेण्ड फ्लोकन

अस्थायी सरकार का सदस्य

पेरिस पहुँचकर मार्क्स ने शीघ्र ही अपना काम नियमित रूप से आरम्भ कर दिया और उस समय की घटनाओं मे अपनी शक्ति के अनुसार पूरा भाग लिया। पर वहाँ अधिक समय तक ठहरने का उसे अवसर न मिला। जर्मनी में क्रान्ति-कारी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और वहाँ के समाचारो से मार्क्स का हृदय चचल होने लगा। उसने एञ्जिल्स की सहायता से 'लीग आफ कम्यूनिस्ट' के मेम्बरो को इकट्ठा किया और उनको इस बात के लिये तैयार किया कि वे जर्मनी पहुँचकर क्रान्ति मे भाग लें। इसके पश्चात् वह स्वयम् भी एञ्जिल्स के साथ राइनलैण्ड पहुँचा और एक

समाचारपत्र को, जो कोलोन से प्रकाशित होनेवाला था, अपने हाथ में ले लिया। १ जून १८४८ को इस पत्र की, जिसका नाम 'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' रखा गया था, प्रथम संख्या प्रकाशित हुई। इसका प्रधान सम्पादक मार्क्स था और एञ्जिल्स, फ्रेलीग्रेथ, विलियम वोल्फ और जार्ज वोर्थ उसके सहकारी सम्पादक थे। जर्मनी का प्रधान साम्यवादी नेता लासेल भी उसमें प्रायः लिखा करता था। शायद ही कभी किसी दैनिक-पत्र को इतना महत्वपूर्ण सम्पादकीय विभाग प्राप्त होने का सौभाग्य हुआ होगा। इस पत्र के कुछ लेखों का संग्रह थोड़े दिन पहले जर्मनी में प्रकाशित हुआ था और अस्सी वर्ष बीत जाने पर भी वे अभी तक पढ़े जाने लायक हैं।

'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' के सम्बन्ध में एञ्जिल्स ने एक जगह लिखा है:— "उस समय प्रजातंत्रवादी समझे जानेवाले पत्रों में यही एक ऐसा था जो श्रमजीवियो का पूर्ण रूप से पक्ष समर्थन करता था। पेरिस मे जुलाई १८४८ में जो बलवा हुआ उसका मार्क्स ने बहुत जोर से समर्थन किया और इस कारण पत्र के तमाम हिस्सेदार नाखुश हो गये। 'क्रुज जीटुङ्ग' पत्र ने 'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया, क्योंकि वह समस्त पवित्र समझी जानेवाली बातो पर आक्षेप करता था और शासन-सत्ता का घोर विरोधी था, चाहे वह सत्ता बादशाह की हो

और चाहे पुलिस के एक मामूली सिपाही की। और इन बातों को वह उस स्थान में रह कर लिखता था जहाँ पर सरकारी सेना की छावनी में आठ हजार सिपाही सदा तैयार रहते थे। राइनलैण्ड के उदारदलवालो ने भी इसका बहुत विरोध किया। सन् १८४८ के अन्त में कोलोन में मार्शल-ला की घोषणा की गई और उस जमाने में इस पत्र को कुछ दिनों के लिये बन्द कर दिया गया। उधर जर्मनी का प्रधान 'न्याय-विभाग' इसके लेखों को बराबर गैरकानूनी करार देता रहता था और सरकारी वकील पर इसके खिलाफ मुकदमा चलाने को जोर डालता रहता था। पर इनमें से किसी बात का तनिक भी प्रभाव इस पर न पड़ा और यह अपने विचारो का दृढ़तापूर्वक प्रचार करता रहा। जैसे-जैसे सरकार इस पर जुल्म करती थी और विरोधी दल-वाले इसकी निन्दा चारो तरफ फैलाते थे वैसे-वैसे ही इसका आदर बढ़ता जाता था और लोग धड़ाधड़ ग्राहक बनते जाते थे। सन् १८४९ के नवम्बर मास मे जब प्रशिया की सेनायें राइनलैण्ड पर अधिकार जमाने लगी * तो

* उस समय तक जर्मनी कितने ही विभिन्न प्रान्तों या रियासतों में बंटा हुआ था। उन सबमें प्रधान प्रशिया का बादशाह था और सब उसकी अधीनता में रहते थे। तो भी आन्तरिक मामलों में सब प्रान्त स्वाधीन थे। कुछ समय पश्चात् समस्त प्रान्तों की स्वाधीनता एक-एक करके अपहरण कर ली गई और एक विशाल जर्मन-राष्ट्र की स्थापना की गई।

'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' के हर एक अंक के ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में लोगों से टैक्स अदा न करने और बल-प्रयोग का मुकाबला बल-प्रयोग से करने की अपील की जाती थी। दो बार इसके लेखों पर मुकद्मा चलाया गया पर दोनों बार जूरी ने इसे निर्दोष कह कर छोड़ दिया। अन्त में मई १८४९ में, जब राइनलैंड की क्रान्ति दबा दी गई और प्रशिया ने वहाँ पर अपनी सेना बहुत बड़ी संख्या में जमा कर ली, तब सरकार इस पत्र को बन्द करने का साहस कर सकी। इसकी अंतिम संख्या १८ मई १८४९ को 'रक्त-अंक' के नाम से प्रकाशित हुई जो कि लाल रङ्ग के कागज पर छपी थी।

'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' को जीवित रखने के उद्योग में मार्क्स को अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा। सरकारी दमन-नीति का मुकाबला करने में अखबार के ऊपर बहुत सा कर्ज हो गया था, और मार्क्स ने अपना सब कुछ बेचकर कर्जदारों का १५ हजार रु० चुकाया। इसके पश्चात् वह पेरिस को रवाना हुआ। वहाँ पहुँचने पर उसने देखा कि 'लाल-प्रजातंत्र' के बजाय पेरिस में क्रान्ति-विरोधी दल का बोलबाला है। जुलाई १८४९ में फ्रांस की सरकार ने उसको पेरिस छोड़ कर एक दूरवर्ती अस्वास्थ्यकर स्थान में रहने की आज्ञा दी। पर मार्क्स ने वहाँ जाने की अपेक्षा फ्रांस को छोड़ देना ही अच्छा समझा और लन्दन चला आया, जहाँ उसका शेष जीवन व्यतीत हुआ।

लन्दन में दुःख और सुख के दिन

मार्क्स ने एक तिहाई शताब्दी तक लन्दन मे निवास किया और इस शहर का उसके जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। लंदन, जो कि समस्त शहरों का राजा समझा जाता है, संसार की हलचल और व्यापार का केन्द्र है। वह उस ऊँची मीनार के सदृश है जिस पर बैठकर समस्त संसार की राजनैतिक और आर्थिक घटनाओ का निरीक्षण किया जा सकता है। दुनियाँ के किसी और शहर को यह महत्व प्राप्त नहीं है। इसलिये लन्दन मे पहुँच जाने से मार्क्स को मनचाही वस्तु प्राप्त हो गई। लन्दन के सिवाय दुनिया के किसी स्थान मे मार्क्स अपने 'कैपिटल' ग्रंथ का मसाला नहीं पा सकता था।

लन्दन में मार्क्स का बहुत सा समय जीवन-निर्वाह के लिये प्रयत्न करने मे खर्च होता था। पर इसके कारण उसने अपना उद्देश्य त्याग नहीं दिया। वह बराबर अर्थशास्त्र और साम्यवाद का अध्ययन करता रहा। साथ ही जब कभी अवसर मिला तो वह श्रमजीवी-आन्दोलन मे प्रमुख भाग लेने मे भी नही चूका। सन् १८५० में उसने 'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' को पुनः लन्दन से पुस्तक-रूप में निकालने की चेष्टा की पर प्रतिकूल परिस्थिति के कारण इसमे सफलता न हुई।

लन्दन में मार्क्स के जीवन का आरम्भिक भाग विशेष कष्टमय रहा। जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है कोलोन में 'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' को जीवित रखने के उद्योग में वह पैसे-पैसे को मुँहताज हो गया था। उस समय वह कितना अधिक दरिद्र हो गया था इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि जब सन् १८५२ के अन्त में उसको कोलोन के कम्यूनिस्टों के मुकदमे के सम्बन्ध में एक ट्रैक्ट निकालने की आवश्यकता हुई तो उसके कागज के लिये उसको अपना अन्तिम कोट बंधक रखना पड़ा। इस आपत्तिकाल मे एक नई कठिनाई यह और उत्पन्न हो गई कि जो जर्मन आन्दोलनकारी विदेशों में बसे हुये थे उनमें क्रान्ति के विफल हो जाने से फूट पैदा हो गई और वे एक दूसरे पर तरह-तरह के आक्षेप करने लगे। सन् १८५१ से १८६० तक मार्क्स की आमदनी का खास जरिया अमरीका के 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में छपनेवाले लेख थे। वह इस पत्र का लन्दन-स्थित सम्वाददाता बन गया था और उसे प्रति लेख पंद्रह रुपये मिलते थे। पर यह रकम इतनी कम थी कि इसमें गुजर हो सकना असम्भव था। सन् १८६२ मे एक बार उसका आर्थिक कष्ट इतना बढ़ गया कि उसने रेलवे आफिस मे क्लर्क की नौकरी के लिये दरख्वास्त की। पर जिस प्रकार उसकी पुस्तकों की भाषा को समझ सकना साधारण मनुष्य के लिये असम्भव

था उसी प्रकार उसकी हस्तलिपि भी इतनी अस्पष्ट थी कि उसको पढ़ सकना बड़ा कठिन था, और इस कारण उसको क्लर्क की नौकरी न मिल सकी। सन् १८६७ में जर्मनी के शासकों ने मार्क्स के एक मित्र द्वारा उससे अपने यहाँ के सरकारी पत्र का आर्थिक सम्वाददाता बनने का प्रस्ताव किया। इस काम में उसको काफी आमदनी हो सकती थी और उसका भयंकर अर्थकष्ट और दरिद्रता पूर्णरूप से दूर हो सकती थी। पर साथ ही इसका अर्थ यह भी था कि वह अपने प्राणों से प्यारे सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दे। मार्क्स ने जर्मन सरकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और सांसारिक सुखों के लिये वह अपनी आत्मा का खून करने को तैयार न हुआ।

इस आपत्तिकाल मे मार्क्स की पत्नी ने जिस धैर्य और आत्म-त्याग का परिचय दिया उससे प्रकट होता है कि वास्तव मे वह एक आदर्श भार्या थी। वह एक रईस घराने की पुत्री थी, और उसका एक भाई जर्मनी के मंत्रिमण्डल का सदस्य था। आयु मे भी वह मार्क्स की अपेक्षा चार वर्ष बड़ी थी। पर उसने कभी घोर दरिद्रता या भयंकर अर्थ कष्ट से घबड़ा कर मार्क्स की शिकायत न की और न कभी अपने भाग्य को उसके साथ विवाह होने के कारण कोसा। वह स्वयं, और घर के दूसरे सब लोग, मार्क्स का हार्दिक सम्मान करते थे और कभी

किसी ने इस बात की इच्छा तक प्रकट न की कि वह अपना कार्य क्रम वदल कर धन कमाने के लिये कोई दूसरा काम करे। मार्क्स की पत्नी वास्तविक अर्थ में उसकी सहधर्मिणी थी। वह सदा प्रसन्न-चित्त रहती थी और कभी उसके मुख पर विषाद की रेखा दिखलाई नही पड़ती थी। वह ऐसी व्यवहार-कुशल थी कि मार्क्स के समस्त परिचित इष्ट-मित्र और अनुयायी उसको वड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। मार्क्स को भी उसकी बुद्धि पर वड़ा भरोसा था, यहाँ तक कि वह अपने तमाम लेखों और पुस्तकों की पाण्डुलिपि उसको दिखला लेता था, और उसकी सम्मति को वड़ी मूल्यवान् समझता था।

मार्क्स को छै सन्ताने उत्पन्न हुईं, जिनमे से तीन कन्याएँ जीवित रहीं और दो लड़कों तथा एक लड़की का देहान्त वचपन मे ही हो गया। इनकी मृत्यु का एक वड़ा कारण मार्क्स की कंगाली भी थी। सन् १८५२ के अप्रैल मास मे उसके एक लड़के का, जिसका प्यार का नाम 'मूश' था, देहान्त हुआ। यह लड़का वड़ा सुन्दर और होनहार था और उसकी मृत्यु से मार्क्स पागल के समान हो गया। उस समय वह इतना निर्धन था कि उसके पास लड़के की अन्त्येष्टि-क्रिया के लायक भी रुपया न था। इसलिये उसकी पत्नी पड़ोस में रहनेवाले एक फ्रांसीसी श्रमजीवी के यहाँ गई, जिसने उसे दो पौण्ड उधार दिये।

इससे उसके दफनाने के लिये शव रखने की सन्दूक और दूसरी चीजें खरीदी गईं। जब उस संदूक को कब्र में लटकाया गया तो मार्क्स ऐसा उत्तेजित हो उठा कि वह भी उस कब्र मे कूदने लगा, पर एक मित्र ने हाथ पकड़ कर उसे रोका। दूसरी दो सन्तानें भी थोड़े दिनों के अन्तर से कालकवलित हो गईं। इसमे संदेह नहीं कि अगर इनकी सेवा-सुश्रूषा का काफी प्रबन्ध होता और डाक्टरों के कहने के अनुसार उनका ठीक-ठीक इलाज किया जाता तो सम्भवतः उनकी जीवन-लीला इस प्रकार अकाल में समाप्त न होती। पर मार्क्स के पास इतना धन न था कि वह इनके लालन-पालन का यथोचित प्रबन्ध कर सकता।

मार्क्स की जो तीन लड़कियाँ जीवित रहीं उनके नाम जेनी, लोरा और इलीनोर थे। इनमें से इलीनोर मार्क्स को बहुत प्यारी थी और इसके साथ हँस-बोल कर वह अपने बहुत से दुःखो को भूल जाता था। इन तीनों लड़कियों का विवाह योरोप के तीन सुप्रसिद्ध साम्यवादियो के साथ हुआ था, जो मार्क्स के अनुयायी थे और विभिन्न देशों मे उसके मत का प्रचार करते रहते थे। इन तीन लड़कियों के सिवाय उसके घर में हेलन नाम की एक दासी भी रहती थी जो उसकी पत्नी के साथ पितृ-गृह (मैके) से आई थी। यह दासी भी एक कुटुम्बी की

तरह घर में रहती थी और उसका जन्म मार्क्स और उसके परिवार की सेवा में ही व्यतीत हुआ। घोर से घोर कष्ट और दरिद्रता के समय भी वह तन मन से घर का काम सँभालती रहती थी और सच पूछा जाय तो मार्क्स उसका बड़ा ऋणी था। घर के सब लोग हेलन को सम्मान और प्यार की निगाह से देखते थे और उसके कहने को कोई नहीं टालता था।

ऊपर लिखे वर्णन से यह न समझ लेना चाहिये कि मार्क्स को कभी रुपया न मिलता था अथवा वह सदैव कंगाल बना रहता था। अनेक समय उसको अपने मित्रों से और पुस्तकों द्वारा अच्छी रकम प्राप्त हो जाती थी। पर जैसा ऊपर लिखा जा चुका है वह सांसारिक व्यवहार में चतुर न था और न गृहस्थी के संचालन का उसे अनुभव था। जैसे ही रुपया आता था वैसे ही घर का ख़र्च भी बढ़ जाता था और थोड़े दिन सैर-तमाशे और गुलछर्रे उड़ाने में गुजरते थे। उसके बाद फिर वही फ़ाकेमस्ती शुरू हो जाती थी। इस बात को मार्क्स का दोष समझा जा सकता है, पर जो लोग संसार की महान् समस्याओं में उलझे रहते हैं उनमें से शायद ही कोई घर-गृहस्थी के प्रबन्ध को सुचारु रूप से कर सकता हो और इस दृष्टि से हम मार्क्स के इस दोष को मार्जनीय समझ सकते हैं।

यद्यपि मार्क्स एक भयंकर क्रान्तिकारी समझा जाता

था और योरोप की शक्तिशाली सरकारें उसके नाम से डरती थीं। पर व्यक्तिगत जीवन मे वह बड़ी कोमल प्रकृति का और विनोदप्रिय था। इतवार के दिन शाम को जब वह अपने कुटुम्बियों और मित्रो के साथ दिलबहलाव के लिये बैठता था तो उसकी चुटकियों और मजाक से लोग खूब हँसते थे और उस समय किसी को यह ख्याल भी नही आता था कि वह एक भयंकर क्रान्तिकारी है। जब वह कोई मजेदार या हाजिरजवाबी की बात सुनता तो कौतुक और विद्रूपमयी हँसी से उसकी आँखें चमकने लगती थीं। उसके परिचित मित्र उसे 'मोहर' (हब्शी) के नाम से पुकारते थे क्योकि उसके सिर और डाढ़ी के बाल कोयले की तरह काले थे। लन्दन की गलियों में खेलनेवाले बच्चे उसे 'दादा मार्क्स' कहते थे और उनके साथ राह चलते हुये वह सदा खेलने को तैयार रहता था। अपने बच्चों के साथ वह बड़ी नर्मी का और प्रेमपूर्ण बर्ताव करता था और उसने कभी उन पर अपना पैतृक अधिकार अथवा रोब जमाने की चेष्टा नही की। प्रसिद्ध कवि हेन ने, जो पेरिस मे मार्क्स के परिवार का सबसे अधिक घनिष्ट मित्र था और जिसने एकबार कई दिन तक घोर परिश्रम और सेवा करके मार्क्स के एक बच्चे की प्राण-रक्षा की थी, लिखा है—"मैं जितने मनुष्यो को जानता हूँ मार्क्स उन सब मे कोमल और मीठी प्रकृति का आदमी है।"

लन्दन में मार्क्स प्रायः प्रत्येक रविवार को अपने परिवार के लोगों और मित्रों के साथ शहर से दूर जंगल या मैदान में सैर करने जाया करता था। वहां जाने से बच्चे खूब खुश रहते थे और दौड़-धूप करने से उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था। बड़ी उम्र वाले जंगली दृश्यो का आनन्द लेते या वृक्षों के नीचे लेटकर अखबार पढ़ते और राजनीतिक बहस-मुबाहिसा करते। कभी-कभी उन लोगों को भी खेलने का शौक पैदा हो जाता और वे दौड़ने की बाजी लगाते, कुश्ती लड़ते, या ढेलो से निशाना मारते। मार्क्स इन सब खेलों में पूरा भाग लेता था। एक दिन उनको जंगल मे 'चेसनट' (एक तरह का फल) का पेड़ दिखलाई पड़ा जिस पर पके हुये फल लगे थे। एक आदमी ने कहा—"देखें कौन ढेले मार कर इसमे से ज्यादा फल नीचे गिराता है।" बस सब लोग ढेले चलाने लगे। मार्क्स ढेला फेंकने मे पागल हो रहा था और उसे इस बात का कुछ भी ध्यान न था कि उसके ढेलो से फल गिरते हैं या नहीं। अन्त मे जब सब चेसनट नीचे गिर गये तब ढेला फेंकना बन्द हुआ। मार्क्स आठ दिन तक दाहिने हाथ को दर्द के मारे हिला न सका।

मार्क्स की शकल-सूरत और पहिनाव प्रभावोत्पादक था और जब पैसा पास में होता था तो वह प्रायः शान-शौकत से रहता था। उसका ललाट बाहर की तरफ उठा

हुआ, भोहें भारी और झुकी हुई, आँखें चमकदार और डरावनी, नाक चौड़ी और तीव्र, और मुँह चंचल था। उसके मस्तक और डाढ़ी के वाल खूब घने थे और विखरे रहते थे, और इससे उसका चेहरा कुछ विकट जान पड़ता था।

अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन मे मार्क्स जितना परिश्रम करता था उसे जान कर आश्चर्य होता है। जब वह लन्दन पहुँचा तो आरम्भ मे उसे अनेक सभा-समाजों में भाग लेना पड़ता था और दिन का वहुत सा हिस्सा उनमें निकल जाता था। इस कारण वह हर रोज रात मे कुछ घंटे पढ़ने-लिखने का काम करने लगा। धीरे-धीरे यह आदत यहाँ तक वढ़ी कि वह सारी रात जागकर काम करता रहता और सुवह होने पर थोड़ी देर के लिये सो लेता। उसकी पत्नी ने इसका विरोध किया, पर उसने उसकी वात हँसी मे उडा दी और समझा दिया कि उसे इस प्रकार काम करने की आदत है। पर प्रकृति के विरुद्ध चलने का फल उसे भोगना पड़ा। यद्यपि उसका शारीरिक संगठन जन्म से वहुत मजवूत था, पर इस असाधारण काम के कारण आठ दस साल मे ही उसके शरीर में अनेकों रोग पैदा हो गये। डाक्टरों की सलाह लेने पर उन्होंने रात का पढ़ना-लिखना कतई वन्द करने और नित्य प्रति कसरत करने तथा दूर तक घूमने को कहा। इसके

अनुसार चलने से उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा। पर जैसे ही शक्ति कुछ बढ़ने लगी वह फिर रात को काम करने लगा और अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में भी घोर परिश्रम करने लगा। फल यह हुआ कि बीमारियों ने फिर उसे आ घेरा और फिर डाक्टरों की सलाह ली गई। इसी प्रकार वह बार-बार अधिक परिश्रम करता और उसके फल से उसे बीमार होना पड़ता। जिस डाक्टर ने अन्तिम बीमारी मे उसका इलाज किया था उसने कहा था कि अगर मार्क्स इस प्रकार शक्ति के बाहर काम न करता और स्वाभाविक जीवन व्यतीत करता तो वह बहुत दिनों तक जिन्दा रह सकता था।

सन् १८६१ से मार्क्स की आर्थिक दशा में कुछ सुधार होने लगा। उसको अपने किसी मृत कुटुम्बी की जायदाद से कुछ धन मिला और उसका मित्र विलियम वोल्फ मरते समय अपनी समस्त सम्पत्ति, जो करीब दस-बारह हजार रुपये, थी उसके नाम लिख गया। एञ्जिल्स भी सदैव रुपये-पैसे से उसकी मदद करता रहता था और सन् १८६९ से उसे नियमित रूप से ३५० पौंड (करीब ५ हजार रुपये) वार्षिक देता रहा। इस प्रकार कई स्थानों से सहायता मिलने से मार्क्स इतना अवकाश पा सका कि उसने अपने प्रधान ग्रंथ 'कैपिटल' का प्रथम भाग लिखकर तैयार कर दिया। यह ग्रन्थ सन् १८६७ मे जर्मन भाषा में प्रकाशित

हुआ, और मार्क्स ने इसे अपने प्रिय मित्र विलियम वोल्फ की स्मृति मे समर्पण किया। उस समय इसका प्रचार जर्मनी मे बहुत कम हुआ और इससे मार्क्स को बड़ी निराशा हुई। पर कुछ समय पश्चात् विदेशों में इसका अच्छा आदर हुआ। रूस की राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग के एक पुस्तक-प्रकाशक ने तुरन्त ही इसका अनुवाद रूसी भाषा में प्रकाशित करने का निश्चय किया। यह अनुवाद सन् १८७२ मे छपकर तैयार हुआ और २७ मार्च से २५ मई तक इसकी एक हज़ार प्रतियाँ बिक गईं। 'कैपिटल' जैसे नीरस और कठिन आर्थिक ग्रन्थ की इतनी बिक्री आजकल के पुस्तक-युग मे भी काफी सफलता का चिन्ह समझी जा सकती है। फ्रांसीसी भाषा के अनुवाद की भी लोगों ने खूब क़दर की। अंगरेज़ी भाषा मे इसका अनुवाद मार्क्स के जीवन-काल में प्रकाशित न हो सका और वहाँवालों ने इसकी तरफ विशेष ध्यान भी न दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमजीवी-संघ

अपने ग्रन्थ 'कैपिटल' के लिए मार्क्स को इंगलैंड के श्रमजीवियों के अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के इतिहास का अध्ययन करना पड़ा था और उसको इस विषय का इतना अधिक ज्ञान था जितना शायद ही किसी अंगरेज या अन्य देशीय विद्वान् को होगा। वह इङ्गलैंड के श्रम-

जीवियों के क्रांतिकारी आन्दोलन और विशेष कर 'चार-टिस्ट' आन्दोलन * की कार्य-प्रणाली और विचारो से पूर्णतया परिचित था। 'चारटिस्ट' आन्दोलन के अवशिष्ट नेताओं से उसका व्यक्तिगत परिचय था। मज़दूरो की भीतरी हलचल को जानने और उसमें भाग लेने को वह सदा उत्सुक रहता था और इसीलिये उसकी दृष्टि निरन्तर इंगलैंड के श्रमजीवी दल की कार्यवाही पर लगी रहती थी। सन् १८६० तक इङ्गलैंड के मज़दूरो का ध्यान विशेष रूप से अपने संघ स्थापित करने और उनके द्वारा अपने संगठन को मजबूत बनाने की तरफ ही रहता था। राज-नीतिक क्षेत्र मे उनकी कोई अलग पार्टी न थी और उनकी गिनती लिबरल (उदार) दल में ही की जाती थी। पर उसके पश्चात् वहां के श्रमजीवी नेताओं के विचारों में परिवर्तन होने लगा और उनका ध्यान पार्लमिंट-सम्बन्धी सुधारों की तरफ़ गया। वे लोग सार्वजनिक मताधिकार के लिये आन्दोलन करने लगे। साथ ही वे लोग पोलैण्ड

---

* यह आन्दोलन इङ्गलैण्ड में सन् १८३२ के सुधारों के कारण उत्पन्न हुआ था। क्योंकि उन सुधारों के फल से पूँजीपतियों का ज़ोर दिन पर दिन बढ़ने लगा और श्रमजीवियों की सत्ता कुछ भी न रह गई। सन् १८३८ में श्रमजीवी दल की तरफ़ से एक 'चार्टर' (अधिकार-पत्र) तैयार किया गया जिसमें सार्वजनिक मताधिकार और पार्लमेंट के चुनाव के सम्बन्ध में छः माँगें पेश की गई थीं। यह आन्दोलन सन् १८४८ तक चलता रहा।

के भाग्य-निर्णय और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों की तरफ भी अनुराग प्रदर्शित करने लगे।

इसमे सन्देह नहीं कि प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमजीवी-संघ का मुख्य संचालक और मार्ग-प्रदर्शक मार्क्स ही था, पर वह उसका जन्मदाता नहीं था। इस कार्य की आरम्भिक योजना इङ्गलैंड और फ्रांस के कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं ने की थी। इसका बीज वास्तव में उस समय बोया गया जब कि सन् १८६२ में फ्रांस के कुछ मजदूर कार्यकर्ता प्रदर्शिनी देखने लन्दन आये। लन्दन के कुछ उन्नत विचारो के नेताओं ने उनका स्वागत बड़ी धूमधाम से किया और उनके सम्मानार्थ एक भोज का आयोजन किया। उस समय आपस की बातचीत मे उन लोगों ने यह विचार प्रकट किया कि यदि विभिन्न देशों से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ खास मामलों का निर्णय करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी बनाई जाय तो अच्छा हो। सन् १८६३ मे पोलैंड में रूस की जारशाही के विरुद्ध भयंकर बलवा हुआ, जिसको सरकारी सेनाओं ने पाशविक बलद्वारा कुचल दिया। इस कार्य में जर्मन सरकार ने रूसवालों की कुछ मदद की थी। उस अवसर पर पोलैंड के प्रति सहानुभूति प्रकट करने को समस्त इङ्गलैंड मे श्रमजीवियो की अनेकों सभायें हुईं। इस प्रकार की एक बड़ी सभा २२ जुलाई १८६३ को लंदन

में हुई जिसमें फ्रांस के मजदूरों के प्रतिनिधि भी सम्मि-लित हुए। उस अवसर पर इङ्गलैंड के मजदूर संघो के नेता ओडगर ने प्रस्ताव किया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की जाय और उसके अधिवेशन नियमित रूप से हुआ करें। ऐसी किसी संस्था की आवश्यकता उस समय सबको स्पष्ट दिखाई दे रही थी, इसलिए सब लोगों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और इसको कार्यरूप मे परिणित करने के लिए कई व्यक्ति अलग-अलग योजनाएँ तैयार करने लगे। सन् १८६४ के अप्रैल मास में फ्रांस के मजदूरों का एक डेपूटेशन फिर लन्दन आया और उसने जर्मन, पोलिश (पोलैंड निवासी), अंगरेज और अमेरिकन प्रतिनिधियों से सलाह करके निश्चय किया कि इस संस्था की स्थापना शीघ्र की जाय और इसके लिये सब देशों के चुने हुये प्रतिनिधियो की एक कान्फरेंस की जाय। मार्क्स के जिम्मे इसकी आरम्भिक लिखापढ़ी का भार दिया गया।

पाँच महीने बाद, २८ सितम्बर १८६४ को सेंट-मार्टिन-हाल की स्मरणीय सभा मे 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमजीवी-संघ (International Working-men's Association) की स्थापना हो गई। मार्क्स इस सभा में जर्मन प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुआ था। उसने कान्फरेंस के सामने अपना लिखा हुआ आरम्भिक भाषण पढ़ कर

सुनाया। इसमें सन् १८२५ से इङ्गलैंड के मजदूरों का इतिहास दिया गया था और उससे जो कुछ शिक्षा प्राप्त हो सकती थी उसका भी विवेचन किया गया था। मार्क्स का यह भाषण एक महत्वपूर्ण लेख है और उससे प्रकट होता है कि 'कैपिटल' के प्रकाशित होने के कुछ समय पूर्व उसके विचार कैसे थे। इसमें इङ्गलैंड की सामाजिक दशा में होनेवाले परिवर्तनो की विशेपरूप से आलोचना की गई है। इसमे स्पष्ट शब्दो में घोपणा की गई है कि गरीबो के स्वत्व अपहरण करनेवालों का अंतिम समय अब पास आ पहुँचा है। पूँजीवाद अपनी सीमा तक पहुच चुका है और उसके नाश में अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं। व्यापार और उद्योग-धन्धों में ही नहीं वरन् खेती तक मे पूँजीवाद फैल रहा है, और जमीन पर अधिकार रखनेवालों की संख्या दिन पर दिन घटती जाती है। व्यवसाय-क्षेत्र में श्रमजीवी अपनी शक्ति बढ़ाते जा रहे हैं।

आगे चल कर मार्क्स लिखता है—"इङ्गलैंड के मजदूरों ने तीस वर्ष तक आश्चर्यजनक सहनशक्ति का परिचय देते हुए जो युद्ध किया है उसके फल-स्वरूप वे कारखानों मे दस घंटे काम होने का कानून पास करा सके हैं। इस कार्य में उनको बहुत कुछ सहायता जमीन के मालिको और कारखानेवालों के आपस के झगड़े से भी मिली है। अब हरएक आदमी स्वीकार करता है कि

मजदूरो के शारीरिक, चरित्र-सम्बन्धी और मानसिक हित की दृष्टि से यह कानून बड़े महत्व का है।.........अब योरोप के अधिकांश देशों की सरकारें अपने यहाँ इङ्गलैंड के समान कानून बनाने को लाचार हो रही हैं। इंगलैण्ड की पार्लमेंट को प्रति वर्ष उस कानून का क्षेत्र बढ़ाना पड़ता है। इस कानून से मजदूरों का जो प्रत्यक्ष हित हुआ है उसके सिवाय और भी बहुत से आश्चर्यजनक फल इससे प्राप्त हुये हैं। इससे पहले पूँजीवादियो के अर्थशास्त्रज्ञ कहा करते थे कि अगर कानून द्वारा मजदूरों से काम कराने की सीमा बाँध दी जायगी तो इङ्गलैण्ड के उद्योग-धन्धों का सर्वनाश हो जायगा। यह 'इङ्गलैंड का उद्योग-धन्धा' एक ऐसा दैत्य है जो कि मनुष्यो के खून—विशेष कर बालकों के खून से पुष्ट होता है। मजदूरों ने कानून द्वारा काम करने के समय को नियमित कराने की घोर चेष्टा की थी। इस कानून के बन जाने से केवल पूँजीवादियों के लालच में बाधा ही नहीं पड़ती वरन् यह मजदूरों के सिद्धान्त की विजय का द्योतक है। क्योंकि पूँजीवालों के पक्षपाती अर्थशास्त्रकारों का मत था कि व्यापार मे जिस तरह लाभ हो सके उसी तरह आँख मूँद कर काम किया जाय। दूसरी तरफ साम्यवादी कहते थे कि उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध समाज के हित की दृष्टि से किया जाय। इस नये कानून द्वारा पूँजीवालो के अर्थशास्त्र पर खुल्लम-खुल्ला हरताल फेर दी गई और

मजदूरों के अर्थशास्त्र की प्रथम वार विजय हुई।"

इस संघ का घोषणापत्र और कार्यक्रम भी मार्क्स ने ही तैयार किया। उसमें उसने अपने सिद्धान्तों का वर्णन ऐसे ढंग से किया था जिससे विभिन्न देशो के मजदूर उनको अच्छी तरह समझ सकें। इस सम्बन्ध में उसने एक पत्र में एञ्जिल्स को लिखा था:—"घोषणापत्र का ऐसे ढंग से तैयार करना, जिससे हमारे सिद्धान्तों और श्रमजीवी आन्दोलन की वर्तमान गति में विरोध न जान पड़े, बड़ा कठिन काम है।......इस आन्दोलन मे नवजीवन का संचार होने मे अभी कुछ समय लगेगा और तब तक वहुत जोरदार भाषा का प्रयोग करना उचित न होगा। इस समय परमावश्यक है कि अपने सिद्धान्तो पर दृढ़ रहने के साथ ही बात को चित्ताकर्षक ढग से कहा जाय।"

सन् १८६५ से १८७० तक मार्क्स का अधिकाँश समय अन्तर्राष्ट्रीय-संघ मे खर्च हुआ। इस संस्था की उन्नति होती देख कर उसके हृदय में बड़ी-बड़ी आशायें उत्पन्न होने लगीं। सन् १८६७ मे उसने एञ्जिल्स को लिखा था:—"कार्य की उन्नति हो रही है। आगामी क्रान्ति के समय, जो सम्भवतः शीघ्र ही होगी, यह शक्तिशाली यंत्र हमारे हाथो मे रहेगा।"

इस अन्तर्राष्ट्रीय-सङ्घ का जीवनकाल तीन भागों में बाँटा जा सकता है। सन् १८६५ से १८६७ तक इसमें प्राउ-

ढन के अनुयायियों की प्रधानता रही। १८६८ से १८७१ तक इसकी बागडोर मार्क्स के हाथ में रही। सन् १८७१ के पश्चात् इसमें बकुनिन के अनुयायियों की प्रबलता हो गई और उन्हीं के कारण इसका अन्त हुआ। प्राउढन और बकुनिन के अनुयायी, मजदूरों का विशाल रूप में संगठन करने और राजनैतिक मामलों मे भाग लेने के विरुद्ध थे, और चाहते थे कि उनका सङ्गठन केवल आर्थिक दृष्टि से छोटे-छोटे दलों मे किया जाय। इन दोनो मे अन्तर यह था कि बकुनिन के अनुयायी कम्यूनिज्म के सिद्धान्त को कुछ अंशों में मानते थे और प्राउढन के मत वाले उससे विरोध रखते थे। इन दोनो दल वालों का मत मार्क्स से केवल इसी एक बात में मिलता था कि उसने श्रमजीवी आन्दोलन का आधार आर्थिक ही रखा था। पर साथ ही दोनों दल वाले उस पर एकाधिपत्य और संघ की समस्त सत्ता अपने ही हाथ मे रखने का दोषारोपण करते थे। इन सिद्धान्त-सम्बन्धी दुस्तर मतभेदों के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय-सङ्घ में जातीय और राष्ट्रीय पक्षपात के झगड़े भी घुस गये थे जिनके फल से उसमे बड़ी फूट फैल गई। रूस और फ्रांस के अराजकतावादी (अनार्किस्ट) जो बकुनिन के अनुयायी थे, मार्क्स को जर्मनी का पक्षपाती समझते थे, और मार्क्स के दल वाले बकुनिन पर स्लैव जाति के पक्षपात का दोष लगाते थे।

यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा, यहाँ तक कि सन् १९१४ में योरोपीय महासंग्राम के आरम्भ होने पर प्रोफेसर जेम्स ने, जो बकुनिन के दल के अन्तिम सदस्य थे, 'जर्मनी का पक्षपाती कार्ल मार्क्स' शीर्षक एक पैमफ्लेट प्रकाशित किया था।

आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय संघ की कांग्रेसों का स्वरूप बिल्कुल सौम्य रहा। पहली कांग्रेस सितम्बर १८६६ में जनेवा में हुई और दूसरी सितम्बर १८६७ में लासेन मे। ये दोनों स्थान स्वीजरलैंड में हैं, जो उन दिनों विभिन्न देशों के राजनैतिक निर्वासितो का एक मुख्य केन्द्र था। दूसरी कांग्रेस मे पूँजीपतियों की निजी जायदाद पर आक्रमण किया जाना आरम्भ हुआ। इसमें एक प्रस्ताव पास किया गया कि समस्त रेलों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना लिया जाय। सहयोग-समितियो (कोपरेटिव बैंकों) पर भी सन्देह प्रकट किया गया कि उनके कारण सामाजिक-क्रान्ति के मार्ग में बाधा पड़ती है। इस अधिवेशन में 'पढ़े-लिखो के विरोध' की आवाज़ भी उठी, और कुछ लोगो ने मार्क्स और एञ्जिल्स को इस आधार पर संघ से अलग करने की चेष्टा की कि वे भी एक समय पूँजीवादियों के दल मे थे। पर उस समय श्रमजीवी आन्दोलन मे नेताओं की संख्या बहुत कम थी और इस लिये यह चेष्टा सफल न हो सकी।

तीसरी कांग्रेस सितम्बर १८६९ में ब्रुसेल्स (बेलजियम) में हुई। इसमें युद्धों के विरोध में एक बहुत जोरदार प्रस्ताव पास किया गया, क्योंकि उसी समय जर्मनी और आस्ट्रिया में युद्ध हुआ था और उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय संसार में काफी हलचल मची हुई थी। इसमें पूँजीपतियों की जायदाद के विषय मे एक कदम और आगे बढ़ाया गया और न केवल रेलो को वरन् खान, जंगल और खेती के लायक तमाम जमीन को भी राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने का प्रस्ताव पास किया गया।

चौथी कांग्रेस १८६८ मे बाल (स्वीजरलैंड) मे हुई। इसमे एक कदम फिर आगे बढ़ाया गया। इसमें घोर वादविवाद के पश्चात् सम्पत्ति के उत्तराधिकार के नियम को निन्दनीय बतलाया गया और निजी जायदाद की प्रथा को सर्वथा उठा देने का प्रस्ताव पास किया गया। कहा जाता है कि यह प्रस्ताव बकुनिन के पक्षवालों की चेष्टा से पास हुआ था और मार्क्स इसके पक्ष में न था। वह बड़े मालदारों की सम्पति पर सार्वजनिक अधिकार होने का पक्षपाती अवश्य था, पर साधारण लोगों की, जीवन-निर्वाह के लिये अनिवार्य निजी जायदाद या सम्पत्ति का विरोधी वह न था। उसका मत था कि इस प्रकार के साधारण श्रेणी वालों की सम्पत्ति पूँजीवाद के फैलने के साथ स्वयं लोप होती जाती है और उसके मिटाने की चेष्टा अनावश्यक है।

पाँचवीं और अन्तिम कांग्रेस सन् १८७२ में हेग (हालैंड) में हुई। सन् १८७० और १८७१ मे फ्रांस-जर्मन संग्राम और फ्रांस में मज़दूरों की क्रान्ति के कारण योरोप में बड़ी हलचल मची रही और अन्तर्राष्ट्रीय-संघ को भी उसमें थोड़ा बहुत फँसना पड़ा। इस कारण इस बीच मे कोई अधिवेशन हो सकना असम्भव था। हेग मे मार्क्स और बकुनिन के मतभेद ने भयंकर रूप धारण कर लिया। इसका फल यह हुआ कि मार्क्स ने, जो कि संघ का प्रधान मंत्री था, उसके मुख्य कार्यालय को न्यूयार्क भेज दिया। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ संघ की जीवन-लीला को समाप्त कर देना था। क्योकि अपने स्वाभाविक कार्यक्षेत्र अर्थात् योरोप से हट जाने से संघ की प्राण-शक्ति जाती रही। अमरीका में वह नाम-मात्र के लिये सन् १८७५ तक क़ायम रहा और इसके पश्चात् नाम का भी लोप होगया। सन् १८८७ में इस संघ का पुनर्जन्म "द्वितीय-अन्तर्राष्ट्रीय-संघ" (Second International) के नाम से हुआ, पर उस समय मार्क्स और बकुनिन दोनों संसार से विदा हो चुके थे।

मार्क्स के कितने ही विरोधियों ने उसके इस कार्य को निन्दनीय बतलाया है। उनका कहना है कि उसने अपने प्रभुत्व की रक्षा करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय-संघ की हत्या कर डाली। पर वास्तव में यह बात सच नहीं है। उस

समय योरोप की जैसी राजनीतिक स्थिति थी उसमें इस संघ का अधिक समय तक कायम रह सकना और काम कर सकना बहुत कम सम्भव था। विरोधी दल वाले इसे खुल्लमखुल्ला 'षड्यंत्रकारियों का अड्डा' कहकर पुकारते थे, यद्यपि इसमें षड्यंत्र का नाम-निशान भी न था और इसके सब काम प्रकट मे होते थे। अराजकतावादियो के हस्तक्षेप के कारण इसकी स्थिति और भी सन्देहजनक होती जाती थी और यह बहुत थोड़ा वास्तविक काम कर सकता था। पर इसके संचालन मे मार्क्स का बहुत सा समय जाता था और वह अध्ययन तथा लिखने का काम बहुत कम कर सकता था। संघ का अन्त हो जाने पर उसे इतना अवकाश मिला कि वह 'कैपिटल' के शेष दो भागों का पूरा मसाला जमा कर सका और दूसरे भाग का ढाँचा भी उसने तैयार कर दिया। यह कार्य श्रमजीवी आन्दोलन के हित की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण था कि उसके मुका-बले मे अन्तर्राष्ट्रीय-संघ के बन्द होने की हानि बहुत छोटी समझी जानी चाहिये।

पेरिस कम्यून

सन् १८७० में जर्मनी और फ्रांस का युद्ध हुआ। १ सितम्बर को जर्मन सेना ने फ्रांसीसी सेना के प्रधान भाग को सीडान के पास पराजित किया और दूसरे दिन फ्रांसीसी सेना ने आत्म-समर्पण कर दिया। जिन लोगों को जर्मनी ने कैद किया था उनमें फ्रांस का सम्राट् लुईस बोनापार्ट भी था। ४ सितम्बर को फ्रांस में राजसत्ता का अन्त हो गया और उसके स्थान में प्रजातंत्र की घोषणा की गई। ६ सितम्बर को मार्क्स ने एन्जिल्स को एक पत्र में लिखा—"अन्तर्राष्ट्रीय-संघ के फ्रांसीसी सदस्य लंदन से पेरिस को रवाना हो गये हैं, और यह निश्चय है कि वे वहां पर संघ के नाम पर कोई मूर्खता-पूर्ण काम करेंगे। उनका इरादा नवीन स्थापित प्रजातंत्र सरकार को हटाकर उसके स्थान में कम्यून (श्रमजीवी-शासन) स्थापित करना है।"

यद्यपि फ्रांस की इस नवीन प्रजातंत्र सरकार मे प्रजातंत्र के सच्चे अनुयायियो की संख्या अधिक न थी, पर मार्क्स और एन्जिल्स ने इस अवसर पर उसके विरुद्ध विद्रोह करना और उसके काम मे बाधा डालना उचित न समझा। ९ सितम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय-सघ की जनरल कौंसिल के सामने मार्क्स ने जो अभिभाषण पढ़ा उसमें वह कहता है :—

"इस प्रकार फ्रांस के श्रमजीवियों ने अपने को अत्यन्त कठिन परिस्थिति में फँसा दिया है। जिस समय शत्रु पेरिस के दरवाजे पर खड़ा हुआ है उस समय नवीन सरकार को उलटने के लिये किसी प्रकार की चेष्टा करना मूर्खता-पूर्ण होगा। फ्रांस के श्रमजीवियो को नागरिक की हैसियत से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये और पुरानी घटनाओं को भूल जाना चाहिये।......उनका काम भूत-काल को दुहराना नहीं है, वरन् भविष्य का निर्माण करना है। उनको उचित है कि वर्तमान प्रजातंत्र-शासन में जो अधिकार प्राप्त हुये हैं उनसे अधिक से अधिक लाभ उठावें, जिससे उनके दल का सङ्गठन खूब दृढ़ हो सके। इससे उनको वह अजेय शक्ति प्राप्त होगी जिससे वे फ्रांस को पुनर्जीवित कर सकेंगे और अपने मूल उद्देश्य अर्थात् श्रमजीवियो के उद्धार को भी सिद्ध कर सकेंगे।"

मार्क्स ने फ्रांस के श्रमजीवियो से साम्यवादी-शासन स्थापित करने की चेष्टा न करने का आग्रह किया था। वह जानता था कि अभी इन लोगो मे केवल जोश है, और उसके द्वारा भले ही वे एक वार सफलता प्राप्त कर लें, पर उनमें वह सङ्गठन-शक्ति नही जिससे इस शासन को चिरस्थायी वनाया जा सके। पर समय का प्रवाह इन बुद्धिमत्ता-पूर्ण वचनो की अपेक्षा वलवान् सिद्ध हुआ। सरकारी अधिकारियो की प्रजासत्ता-विरोधी कार्रवाइयों

से तङ्ग आकर, फ्रांसीसी सेना की हार से अपमानित होकर, और देशभक्ति के भावों से उत्तेजित होकर पेरिस के श्रमजीवी मार्क्स की अनमोल सम्मति को भुला बैठे और नवीन प्रजातंत्र सरकार को लौट कर उन्होंने १८ मार्च १८७१ को 'कम्यून' की स्थापना कर दी। पेरिस को फ्रांस के साम्यवादी-राज्य की राजधानी बनाना निश्चय हुआ। पर सात ही सप्ताह में पासा पलट गया। पूँजी-पतियों और उनके साथियो ने इस साम्यवादी-शासन का अन्त कर दिया और श्रमजीवियों की क्रान्ति को घोर निर्दयता-पूर्वक कुचल डाला।

मार्क्स आरम्भ मे कम्यून के विरुद्ध था, पर जब पेरिस के श्रमजीवियों ने सचमुच इस काम को कर डाला तो उसने यथाशक्ति उनकी सहायता की। अन्तर्राष्ट्रीय-संघ के पास उस समय इतनी शक्ति न थी कि वह उसकी रक्षा कर सके, तो भी इस संकट के समय मे उसने कर्तव्य से मुँह न मोड़ा। फल यह हुआ कि 'कम्यून' के नष्ट होने के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय-संघ भी योरोप के सब देशो मे एक गैर-कानूनी संस्था समझा जाने लगा। इसके कुछ समय पश्चात् पेरिस के श्रमजीवियो और 'कम्यून' के समर्थन में मार्क्स ने 'फ्रांस मे गृह-युद्ध' शीर्षक एक ट्रैक्ट प्रकाशित किया जिसे उसने अपने हृदय के रक्त से लिखा है। इसमें उसने पेरिस के क्रान्तिकारियो—उस समय के बोलशेविकों

की निन्दा नहीं की है, न उनसे पृथक् होने की चेष्टा की है,-वरन् पूर्ण शक्ति से उनके वास्तविक महत्त्व को संसार के सामने प्रकट किया है। इस निबन्ध के अन्त में उसने जो शब्द लिखे हैं वे नीचे दिये जाते हैं :—

"पेरिस के श्रमजीवी और उनका 'कम्यून' अनन्त काल तक एक नवीन समाज के कीर्तिमान अगुआ मानकर स्मरण किये जायँगे। इन शहीदो का मन्दिर श्रमजीवी-दल के विशाल हृदय में बन चुका है। और 'कम्यून' का उच्छेद करनेवालों का इतिहास उस अविनाशी सूली पर चढ़ाया जा चुका है जहाँ से उसका उद्धार उनके पुजारियों की समस्त प्रार्थनाओं द्वारा भी नहीं हो सकेगा।"

जीवन के अंतिम दिन

जीवन के अंतिम बारह वर्षो में मार्क्स को निरन्तर शारीरिक व्याधियो से संग्राम करना पड़ा। इसका मुख्य कारण 'कैपिटल' और श्रमजीवी-आन्दोलन मे घोर परिश्रम करना था। वर्षों तक वह लंदन के ब्रिटिश-म्यूजियम पुस्तकालय में बैठकर सोलह घंटे प्रति दिन के हिसाब से अध्ययन करता रहा। इसके सिवाय रात के समय जो लिखने का काम घर पर करता था वह अलग था। इस

प्रकार अमानुषी परिश्रम करने पर भी उसके जीवन का कार्य, अर्थात् 'कैपिटल' ग्रंथ अधूरा रह गया। इस सम्बन्ध में उसने अपने एक अमरीकन मित्र को एक बार लिखा था—"जिस काम के लिये मैंने स्वास्थ्य, सुख और परिवार का बलिदान कर दिया वह भी पूरा न हो सका।" बीमारी के कारण लाचार होकर उसको अर्थशास्त्र और साम्यवाद का अध्ययन और लेखन-कार्य बन्द करना पड़ा। पर इस बीच में भी वह बिल्कुल निकम्मा न रहा। इस अवसर का उपयोग उसने अमरीका की खेती और रूस के गाँवों की अवस्था का अध्ययन करने में किया। इसके लिये उसने उस बड़ी उम्र में रूसी भाषा का अध्ययन किया। इसके साथ ही वह स्टाक एक्सचेंज, बैंकिंग, भूगर्भशास्त्र और औषधिशास्त्र के ग्रंथ भी पढ़ता रहता था। सन् १८७५ मे उसने जर्मन श्रमजीवी दल के कार्यक्रम के, जो 'गोथा प्रोग्राम' के नाम से मशहूर है, सम्बन्ध में एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। इसमें मार्क्स ने राज्य, पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच के क्रान्तिकारी परिवर्तन-काल, और साम्यवादी समाज की स्थापना के सम्बन्ध में कितने ही महत्वपूर्ण तत्वों का विवेचन किया है।

मार्क्स स्वास्थ्य-सुधार के लिये सन् १८७४ और १८७६ में कई बार कार्लसबाद गया जो कि योरोप का एक प्रसिद्ध स्वास्थ्यकर स्थान है। इसके फल से १८७७ और ७८ में

इसकी हालत कुछ सुधर गई और वह थोड़ा बहुत काम करने लायक हो गया। पर जैसे ही वह 'कैपिटल' के दूसरे भाग के मसाले को क्रमपूर्वक रख कर उसे छपने लायक बनाने में परिश्रम करने लगा, वैसे ही उसकी हालत फिर खराब हो गई और वह समझ गया कि उसकी काम करने की शक्ति सदा के लिये जाती रही। शरीर और दिमाग की कमजोरी दिन पर दिन बढ़ने लगी, और फ्रॉस तथा अलजीरिया के स्वास्थ्य-प्रद जलमय-स्थानों के निवास से भी उसकी बीमारी दूर नही हुई। इन दिनो में उसका प्रभाव इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में बराबर बढ़ता जाता था, और जूल्स गुडे, हेनरी हाइण्डमैन, बेलफोर्ट वैक्स आदि कितने ही सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके सिद्धान्तो का प्रचार जोरों से कर रहे थे। अनेक स्थानों मे मार्क्स के पक्षवालों और विपक्षियो की संस्थायें भी कायम होने लगी थीं। पर जिस व्यक्ति के नाम पर ये सब कार्य किये जा रहे थे वह स्वयं बर्बाद हो चुका था। उसके जीवन-काल मे लोगो ने उसके मूल्य को नहीं समझा और उसके परिश्रम का उसे कुछ भी पुरस्कार न मिला। 'कैपिटल' के लिखने में उसने करीब चालीस वर्ष परिश्रम किया था, और परिश्रम भी ऐसा कि जिसे मार्क्स के समान ही कोई व्यक्ति कर सकता था। पर इसके बदले मे उसे क्या मिला ? उसे जो कुछ मिला वह

इतना कम था कि एक छोटे से छोटा मजदूर भी चालीस वर्ष में उससे कहीं अधिक कमा लेता।

जब कि मार्क्स इस प्रकार कष्ट भोग रहा था और खाँसी, फेफड़ों की जलन, दमा आदि अनेक रोगो ने उसकी देह में घर बना रखा था, उसी समय २ दिसम्बर १८८१ को उसकी पत्नी का और जनवरी १८८३ मे उसकी बड़ी लड़की का देहान्त हो गया। इन दो चोटो ने मार्क्स के कोमल कलेजे को चकनाचूर कर दिया और उसकी रही-सही शक्ति भी जाती रही। जिस दिन उसकी पत्नी का देहान्त हुआ उसी दिन एञ्जिल्स के मुँह से ये शब्द निकले थे—"मार्क्स भी मर गया।" जो लोग उसके गृह-जीवन से परिचित थे और जानते थे कि वह अपनी पत्नी के ऊपर कितना अवलम्बित रहता है, उनको इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति न जान पड़ी। उस दिन भी वह उसी प्रकार विक्षिप्त हो गया, जिस प्रकार तीस वर्ष पहले अपने पुत्र 'मूश' की मृत्यु पर हुआ था। जिस समय उसकी पत्नी की लाश कब्र में रखी जा रही थी उस समय यदि एञ्जिल्स जोर से उसका हाथ न पकड़ लेता तो वह निश्चय ही नीचे कूद कर अपने प्राण दे देता। यह घटना हमको भवभूति के "उत्तर राम-चरित" नाटक मे वर्णित—"वज्र से भी कठिन और फूल से भी कोमल" रामचन्द्रजी की याद दिलाती है। जो व्यक्ति राजनैतिक क्षेत्र में बड़े से बड़े शत्रु के सामने

सिर नीचा न करे और भीषण-क्रान्ति के समय नर-रक्त की होली होती देखकर जिसका दिल न काँपे, वह अपनी पत्नी या दो तीन वर्ष के बालक की मृत्यु पर इतना विह्वल हो जाय कि प्राण त्यागने लगे, यह एक आश्चर्यजनक बात जान पड़ती है। महापुरुषो के चरित्र का समझ सकना सर्व-साधारण के लिये सदा इसी प्रकार पहेली-स्वरूप हुआ करता है।

एञ्जिल्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। मार्क्स की शारीरिक दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई और १४ मार्च १८८३ को उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उस समय का वर्णन एञ्जिल्स ने अपने एक अमरीकन मित्र को लिखा था, जिसमे वह कहता है :—

"कल दोपहर को ढाई बजे मैं मार्क्स से मिलने नीचे गया, क्योंकि यही उससे भेंट करने का सबसे अच्छा समय था। मैंने हर एक आदमी को रोते पाया और मैं समझ गया कि मार्क्स के जीवन की अंतिम घड़ी आ पहुँची। पूँछने से मालूम हुआ कि उसके मुँह से कुछ खून निकला है और उसकी दशा बहुत खराब हो गई है। इसी समय लीना वहां आई, जिसने इस बीमारी में उसकी अपने सगे बेटे से भी बढ़कर सेवा की थी। उसने कमरे के भीतर जाकर देखा और वापस आकर मुझे बतलाया कि मार्क्स अर्द्धनिद्रित अवस्था में है और मैं जाकर उससे मिल सकता

हूँ। जैसे ही हम भीतर पहुँचे मैंने देखा कि वह ऐसी नींद में सोया हुआ है जिससे आज तक कोई नहीं उठा। उसकी नाड़ी और सांस की गति रुक गई थी। उन दो मिनटों के भीतर वह विना किसी कष्ट के शान्तिपूर्वक सदा के लिये सो गया।

"आज मनुष्य जाति एक बड़े महत्वपूर्ण मस्तक से रहित हो गई। श्रमजीवी-आन्दोलन अपने रास्ते पर चलता रहेगा, पर उसका केन्द्र, जिसकी तरफ फ्रांसीसी, रूसी, जर्मन, अमरीकन आदि समस्त श्रमजीवी कठिनाई के समय देखा करते थे; और जिससे उनको सदैव सच्ची और स्पष्ट सम्मति, जोकि शुद्ध बुद्धि और पूर्ण पाण्डित्य के द्वारा ही दी जा सकती है, मिलती थी—चला गया।"

१७ मार्च को मार्क्स का शव लन्दन के हाईगेट कवरिस्तान में अपनी पत्नी की कब्र के पास ही, बड़ी धूम-धाम से दफनाया गया। जो लोग उस अवसर पर बोले उनमें एञ्जिल्स और विलियम लिवनेट भी थे। एञ्जिल्स ने मार्क्स के क्रान्तिकारी कार्यों का वर्णन करते हुये कहा:—

"जिस प्रकार डार्विन ने चेतन जगत् के विकास-सिद्धान्त का आविष्कार किया, ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने मनुष्य-जाति के इतिहास के विकास-सम्बन्धी नियम का आविष्कार किया। यह नियम बिल्कुल सीधासाधा है, पर अब तक यह आदर्शवाद के घटाटोप में छुपा हुआ था। यह स्पष्ट है

कि मनुष्यों को सबसे पहले खाने, पहिनने और रहने का प्रबन्ध करना पड़ता है; और इसके पश्चात् ही वे राजनीति, विज्ञान, कला, मजहब या अन्य किसी विषय की तरफ ध्यान दे सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि किसी युग में प्रचलित राष्ट्रीय संस्थाओं, कानूनी प्रथाओं, कला, और धार्मिक विचारों आदि का आधार उस देश या युग के आर्थिक विकास और जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति पर होता है, और इन्हीं के द्वारा उनका निर्णय किया जा सकता है। पर आजकल ठीक इससे उलटी विचार-प्रणाली का अवलम्बन किया जाता है। मार्क्स ने उस विशेष नियम का भी पता लगाया है जिसके अनुसार पूँजीवादी-समाज और वस्तुओं की उत्पत्ति की पूँजीवादी-पद्धति का सञ्चालन होता है। अतिरिक्त-मूल्य (Surplus value) के नियम का आविष्कार करके मार्क्स ने एक ऐसे विषय को बोध-गम्य बना दिया है जिसका रहस्य न तो पूँजीवादी अर्थशास्त्रकार जान सके थे और न साम्यवादी विचारक जिसका पता पा सके थे।"

एञ्जिल्स के पीछे जर्मनी का सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता लिब्नेट बोला, जो उसी समय अपने मित्र और गुरु की अन्त्येष्टि-क्रिया में भाग लेने को लन्दन आया था। उसने कहा:—

"जिस व्यक्ति की मृत्यु के ऊपर आज हम शोक प्रकट

कर रहे हैं वह प्रेम और घृणा दोनों की दृष्टि से महान् था। उसकी घृणा उसके प्रेम से ही उत्पन्न हुई थी। जिस प्रकार उसकी बुद्धि महान् थी उसी प्रकार उसका हृदय भी महान् था। उसने समाज-प्रजातंत्र-वाद को एक मत या सिद्धान्त की बजाय एक पार्टी या दल बना दिया, जो आज कल बिना हार माने युद्ध कर रहा है और अन्त में जो अवश्य विजय प्राप्त करेगा।"

चौथा अध्याय

मार्क्स की कुछ विशेषतायें

विद्या और ज्ञान

मार्क्स में दूसरे लोगों पर प्रभाव जमाने की अद्भुत शक्ति थी। अनेक भारी-भारी विद्वान् और सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके अनुयायी थे और ऐसे लोगों की एक मण्डली सदा उसके साथ रहा करती थी। ये लोग प्रायः प्रतिदिन 'कम्यूनिस्ट सङ्घ' के कार्यालय या ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय में एक स्थान पर इकट्ठे हुआ करते थे और मार्क्स के साथ मिलकर अर्थशास्त्र और साम्यवाद का अध्ययन करते; तथा श्रमजीवी-आन्दोलन की समस्याओं

और गति पर विचार करते थे। इन लोगों का अध्ययन और वादविवाद साधारण न होता था। योरोप की श्रम-जीवी हलचल का आधार कितने ही अंशो में इस मण्डली के निर्णय पर भी रहता था। इसमें जो व्यक्ति भाग लेते थे वे साम्यवादी आन्दोलन के स्तम्भ समझे जाते थे। इस मण्डली मे सम्मिलित होने के पहले प्रत्येक व्यक्ति की वड़ी कड़ी परीक्षा ली जाती थी। मार्क्स केवल प्रार्थी के अर्थशास्त्र और साम्यवाद-सम्बन्धी ज्ञान की ही जाँच नहीं करता था, वरन् वह उसके मस्तक को भी अपने हाथ से टटोल कर देखता था। उसको मस्तक-शास्त्र(Phrenology) का थोड़ा बहुत ज्ञान था और वह इस विद्या मे पूरा विश्वास रखता था। कुछ समय वाद उसने यह नियम वना दिया कि मंडली में सम्मिलित होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की विधि-पूर्वक मस्तक-परीक्षा की जाय। इस कार्य का भार कार्ल फेंडर नामक एक सदस्य को सौंपा गया, जो इस विद्या का विशेषज्ञ था।

पर मार्क्स की परीक्षा एक दिन में ही समाप्त नहीं हो जाती थी। मण्डली मे शामिल होने के वाद भी वह अवसर मिलने पर सदैव सदस्य की जाँच करता रहता था। उसका अध्ययन इतना विस्तृत था और स्मरणशक्ति ऐसी आश्चर्य-जनक थी कि उसके प्रश्नो का उत्तर देना बड़ा ही कठिन होता था और कुछ लोग इससे अप्रसन्न भी हो जाते थे।

पर जिस प्रकार परीक्षा लेने में वह किसी प्रकार की रियायत नहीं करता था उसी प्रकार सदस्यों को शिक्षा देने के लिये भी सदा तत्पर रहता था। इस विषय में वह बड़े धैर्य से काम लेता था और जब तक शिष्य पाठ्य विषय को पूरी तरह से जान न लेता बराबर समझाता रहता था। शिक्षा देने में वह कड़ाई से काम अवश्य लेता था पर शिष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता था। यह एक ऐसा गुण था जिसका प्रत्येक आदर्श-शिक्षक में होना अनिवार्य है।

मार्क्स भाषा-विज्ञान में बड़ा प्रवीण था। जर्मन भाषा का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण उसे कंठस्थ था और जर्मन-कोश का भी उसे बहुत अधिक ज्ञान था। अङ्गरेजी और फ्रांसीसी भाषाओं को वह अङ्गरेजों और फ्रांसीसियों के समान ही लिख सकता था यद्यपि उसके उच्चारण में कुछ त्रुटि रहती थी। 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' मे उसके जो लेख छपते थे वे बड़ी प्रौढ़ अङ्गरेजी मे लिखे जाते थे। प्राउढन की पुस्तक के खण्डन मे उसने जो 'दर्शन शास्त्र की दरिद्रता' नामक पुस्तक लिखी थी वह फ्रांसीसी भाषा में थी, और उसकी भाषा इतनी शुद्ध और परिमार्जित थी कि संशोधनकर्ता को, जोकि मार्क्स का एक मित्र था, उसमें बहुत ही कम परिवर्तन करना पड़ा। मार्क्स को भाषाओं की उत्पत्ति, विकास और बनावट का पूरा ज्ञान था और इस कारण किसी नई भाषा के सीखने मे उसे विशेष

कठिनाई नहीं पड़ती थी। जैसा पीछे वर्णन किया जा चुका है बुढ़ापे में उसने रूसी भाषा सीखी थी। जब रूस और टर्की का युद्ध आरम्भ हुआ तो उसने तुर्की और अरबी भाषायें सीखने का इरादा किया जो किसी कारणवश बाद मे छोड़ दिया गया। जिस भाषा को वह पढ़ना चाहता था उसके साहित्य को भलीभांति पढ़ता था और अपनी असाधारण स्मरणशक्ति की बदौलत कुछ ही समय में उसके शब्दों और मुहावरों को याद कर लेता था। इतना हो जाने पर उसे शुद्ध रीति से लिखना विशेष कठिन नहीं रहता था।

भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी अभिज्ञता के कारण मार्क्स शुद्ध भाषा लिखने पर बड़ा जोर देता था और प्रायः ठीक शब्द तलाश करने के लिये घंटों तक सोचता रहता था। वह किसी भाषा मे अनावश्यक विदेशी शब्दों का प्रयोग करना बुरा समझता था और यद्यपि उसके जीवन के कई वर्ष विभिन्न देशों मे घूमते बीते थे, तो भी वह जिस भाषा को लिखता था बिल्कुल शुद्ध रूप मे लिखता था। वह इस विषय मे अपने साथियो को भी सदा समझाता रहता था।

कितने ही लोगो का कहना है कि मार्क्स की लेखन-शैली में कोई नियम नही और वह अस्पष्ट और दुरूह है। ऐसे लोगो ने वास्तव मे मार्क्स की पुस्तकों को पढ़ा ही नहीं। यह सच है कि उसकी 'कैपिटल' की भाषा जटिल है और

उसका समझ सकना साधारण मनुष्यों के लिये बड़ा कठिन है। पर इस प्रकार के वैज्ञानिक ग्रंथ में यह बात स्वाभाविक है। गहन आर्थिक तत्वों का वैज्ञानिक रूप से ठीक-ठीक निरूपण और विवेचन करना सरल नहीं है और 'कैपिटल' में जिस रूप में मार्क्स ने अपने विषय का प्रतिपादन किया है उसमें कुछ भी हेर फेर करने से अर्थ का बदल जाना निश्चित है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि मार्क्स जोरदार और सरल भाषा लिखना नहीं जानता था। उसकी 'फ्रांस में गृहयुद्ध', 'अठारहवाँ ब्रूमेयर' और 'हरवाट' आदि पुस्तकों की भाषा ऐसी जोरदार, परिष्कृत और बोधगम्य है कि उनको पढ़ कर कोई ऊपरोक्त आक्षेप को सच नहीं मान सकता।

ख्याति की लालसा

ख्याति की लालसा से मार्क्स को हार्दिक घृणा थी। विना किसी प्रकार के अहंकार के वह जनता द्वारा की जाने वाली प्रशंसा को तुच्छ समझता था। उसकी सम्मति में साधारण जनता में बुद्धि की मात्रा बहुत कम होती है और वह प्रायः शासकों के भावों और विचारों का ही अनुकरण किया करती है। दूसरे शब्दों मे वह "यथा राजा तथा प्रजा"

के सिद्धान्त को सच मानता था। मार्क्स की ऊपरोक्त धारणा का कारण भी था। यद्यपि आजकल जनता में साम्यवादी भावों का कुछ-कुछ प्रचार हो गया है, पर अब से ८० वर्ष पहले योरोप की जनता भी इससे बहुत कम परिचित थी और इसके प्रति उपेक्षा का भाव रखती थी। श्रमजीवियों में से बहुत से लोग इसका महत्व समझते थे, पर उनको भी इसके सच्चे स्वरूप का बहुत कम ज्ञान था और वे प्रायः प्रजातंत्रवादियों की चिकनी-चुपड़ी बातों और जोशीले शब्दो में ही फँसे रहते थे। इस कारण मार्क्स का मत था कि जनता जिस बात की सराहना करे वह अवश्य ही दूषित होगी। वह सदा प्रसिद्ध कवि डाण्टे के एक पद को दुहराया करता था जिसका भावार्थ है:—"अपने रास्ते पर बढ़े चलो और लोगो को चर्चा करने दो।" इस पद को उसने न जाने कितने स्थानो पर उद्धृत किया था और 'कैपिटल' की प्रस्तावना का अन्त भी उसने इसी पद से किया है। मार्क्स ने अपने जीवन का जो लक्ष्य बनाया था उसमे न मालूम कितनी बार उसको चारो तरफ से आक्षेपों, टीका-टिप्पणिओ और गालियों तक की बौछार सहनी पड़ती थी। कितनी ही बार स्वयं श्रमजीवी, जिनके उद्धार के लिये वह नींद और भूख को भुला बैठा था, उसपर सन्देह करते थे और खुल्लम-खुल्ला उसका विरोध करते थे। ऐसे अवसरों पर अपनी पढ़ने की छोटी सी कोठरी में

बैठा हुआ वह इसी पद द्वारा अपने हृदय को साहस दिलाता था।

जनता की रुचि के अनुकूल गरमागरम व्याख्यान देकर वाहवाही लूटनेवालो को मार्क्स बड़ी नीची निगाह से देखता था। ऐसे लोगों को वह 'बातूनी' कह कर तिरस्कार करता था और जिसको वह एक बार 'बातूनी' समझ लेता था उसके प्रति सदा उपेक्षा का भाव रखता था। उसका सिद्धान्त था कि प्रत्येक बात पर तर्क-पूर्वक विचार किया जाय और अपने विचारो को स्पष्ट रूप में प्रकट किया जाय। इस बात का महत्व वह अपने साथियों के हृदय पर भी सदा अंकित करने की चेष्टा किया करता था। वह उनमें आत्म-परीक्षा की प्रवृत्ति उत्पन्न करने का बड़ा प्रयत्न करता रहता था, जिससे वे अपने अर्जित ज्ञान से सन्तुष्ट होकर सुस्त न बन जायँ। जो लोग थोड़ा-बहुत अध्ययन करके ही अपने को पण्डित समझ बैठते हैं उनकी वह बड़ी धूल उड़ाता था।

निरभिमानिता

मार्क्स के विरोधी प्रायः उसके ऊपर यह इलजाम लगाते हैं कि वह बड़ा अभिमानी और अहंकारी व्यक्ति था और दूसरे लोगों को सदा उपेक्षा की दृष्टि से

देखा करता था। इसी कारण किसी अन्य स्वतंत्र विचार के नेता से उसकी पटती नही थी और जन्म भर वह दूसरे लोगों का खण्डन ही करता रहा। इन लोगो के मत से वह एक ईर्षालु व्यक्ति था जो किसी के उत्कर्ष को नहीं सह सकता था।

पर जब हम मार्क्स के अन्तरङ्ग मित्रों के लिखे वर्णन को पढ़ते है और उसके जीवन की घटनाओं पर विचार करते है तो हमको ऊपरोक्त दोषारोपण सर्वथा काल्पनिक या भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। यह सच है कि ब्रुनो बौर, प्राउढन, मेजिनी, बकुनिन आदि अनेक सुप्रसिद्ध समकालीन विद्वानो के साथ उसका मतभेद हुआ और उनका खण्डन भी उसने निस्सङ्कोच भाव से किया, पर इसका कारण यह नही था कि उसे उन लोगो के प्रति किसी प्रकार का द्वेष था अथवा वह उनकी ख्याति और प्रभाव से जलता था। वरन् वह अपने सिद्धान्तों पर इतना दृढ था और उनकी सचाई मे उसको इतना अधिक विश्वास था कि अगर कोई जनता मे उनके विरुद्ध सिद्धान्तो का प्रचार करता तो वह इसे सह नहीं सकता था। श्रमजीवियों की दुर्दशा और उन पर होनेवाले अत्याचारों को देखकर उस का हृदय रोता था, उनके उद्धार के लिये वह प्राण देने को तैयार हो जाता था, और जो कोई उसके ख्याल से उनको गलत रास्ते पर ले जाना चाहता था उसके प्रति उसकी

क्रोधाग्नि भड़क उठती थी। जैसा लिवनेट ने उसकी मृत्यु के समय कहा था, वास्तव मे 'उसकी घृणा उसके प्रेम से ही उत्पन्न हुई थी।' उसके चरित्र के सम्बन्ध मे लिवनेट ने एक स्थान पर लिखा है:—

"मार्क्स अत्यन्त उदार और न्याय-परायण व्यक्ति था और दूसरों के महत्व को स्वीकार करने में तनिक भी आनाकानी नहीं करता था। ईर्षा, द्वेष और अहंकार उससे कोसो दूर रहते थे। पर झूँठे बड़प्पन और नकली कीर्ति का वह कट्टर विरोधी था और किसी असत्य और बनावटी बात को वह सहन नहीं कर सकता था। वह ऊपरी दिखावट से बड़ी घृणा रखता था। एक छोटे बच्चे के समान वह निष्कपट और भोला था और सिवाय किसी ऐसे अवसर के जब कि राजनीतिक या आन्दोलन-सम्बन्धी कारण से सावधानी से बात करने की आवश्य-कता हो, वह सदा जो मन मे आता था कह डालता था। पर जब कभी आवश्यकतावश भी उसे अपने मनोभावो को गुप्त रखना पड़ता था, तो वह बच्चे के समान ऐसा नौसिखियापन प्रकट करता था, जिससे उसके मित्रों को बड़ा मज़ा आता था। उसके समान सच्चे आदमी बहुत कम देखने मे आते है और अत्युक्ति न समझी जाय तो हम कह सकते हैं कि वह सत्य का अवतार था। उसके चेहरे के भाव को देखकर कोई भी मनुष्य उसके भीतर

की बात का पता पा सकता था। उसकी इस सरलता और भोलेपन को देखकर उसकी पत्नी उसे 'बड़ा बच्चा' कह कर मजाक किया करती थी।"

एक बार फ्रांस का प्रसिद्ध साम्यवादी नेता लुई ब्लैंक लन्दन में मार्क्स से मिलने आया। मार्क्स उस समय डीन स्ट्रीट के एक छोटे से घर मे रहता था, जिसमें सिर्फ दो ही कमरे थे। इनमे से बाहरवाले कमरे में मिलनेवाले लोग उठते बैठते थे और पिछले कमरे में शेष सब काम होते थे। दासी ने लुई ब्लैंक को बाहरवाले कमरे में बैठाया और मार्क्स को उसके आने की ख़बर दी। जब कि मार्क्स उससे मिलने के लिये पिछले कमरे में शीघ्रतापूर्वक कपड़े पहिन रहा था, उसने दर्वाजे के छिद्र मे होकर बड़ा तमाशा देखा। लुई ब्लैंक, जो अपने समय का बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ और इतिहासवेत्ता था, बिल्कुल बौना था। उसकी उँचाई आठ वर्ष के लड़के से अधिक न थी, पर वह अत्यन्त शान दिखलाने वाला था। बाहरवाले कमरे में चारो तरफ निगाह दौड़ाने पर उसको एक कोने में एक बड़ा पुराना दर्पण दिखलाई दिया। वह उसके सामने तन कर खड़ा हो गया और सलाम और भेंट करने का अभिनय करने लगा। मार्क्स की पत्नी ने भी दूर से इस मजेदार दृश्य को देखा और वह बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी को रोक सकी। जब मार्क्स कपड़े पहिन चुका और

उसने जोर से खखार कर अपने आने की सूचना दी तो लुई ब्लैंक ने दर्पण के सामने से दो कदम हट कर बड़े लहजे के साथ उसे सलाम किया। पर मार्क्स जैसे फक्कड़ आदमी के सामने अभिनय कर सकना असम्भव था और लुई को शीघ्र ही अपना दिखावटी ढङ्ग बदल कर यथाशक्ति स्वाभाविक ढङ्ग से व्यवहार करना पड़ा।

बच्चों से प्रेम

बलवान और स्वस्थ प्रकृति के व्यक्तियों की भाँति मार्क्स को भी बच्चों से असाधारण प्रेम था। वह केवल अपने ही बच्चों से प्रेम नहीं करता था, वरन् रास्ते में चलते हुये, अनजान बच्चों और खासकर असहाय और दरिद्र बच्चों की तरफ उसका ध्यान बड़ी ज़ल्दी आकृष्ट हो जाता था। गरीब लोगों के मुहल्लों में घूमते हुये वह अनेकों बार अपने साथियों को छोड़कर किसी घर के दर्वाजे पर बैठे चिथड़ा लपेटे हुये बालक के पास पहुँच जाता और प्यार से उसके बालों को सँवारने लगता या उसके छोटे से हाथ में एक दो पैसा देकर चला आता। भिखारियों को वह अविश्वास की निगाह से देखता था, क्योंकि उन दिनों लन्दन में उनका बड़ा जोर था और उन लोगों ने भीख माँगना अपना पेशा बना रखा था।

वह शुरू में, जब उसकी जेब में पैसा होता था, उनको कुछ दे देता था। पर बाद मे जब उनका भेद वह अच्छी तरह जान गया तो उसने भीख देना बन्द कर दिया। खास कर जिन भिखारियों ने उसे झूँठी बीमारियो और तकलीफों का बहाना करके ठगा था उनसे वह बड़ा नाराज रहता था। पर जब कोई भिखारी—मर्द या औरत—बच्चे को लेकर उसके सामने माँगने को आता तो उसकी दृढता हवा खाने चली जाती। यद्यपि उसको भीख माँगनेवाले के चेहरे पर धूर्तता का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ जाता, तो भी बच्चे की करुणापूर्ण दृष्टि से उसका दिल पिघल जाता और वह उसे कुछ दे डालता।

किसी की शारीरिक निर्बलता और लाचार हालत को देखकर मार्क्स के हृदय में करुणा और सहानुभूति का भाव उमड़ पड़ता था। उन दिनों लन्दन मे मर्द प्राय: अपनी औरतों को मारा करते थे, और जब मार्क्स की आँखों के सामने ऐसी कोई घटना होती तो उसका गुस्सा भड़क उठता था। एक दिन वह लिबनेट के साथ हैम्पस्टीड सड़क पर गाड़ी पर जा रहा था कि रास्ते मे एक बड़ी भीड़ दिखलाई दी और 'हत्या—हत्या' की आवाज भी कानों में आई। मार्क्स बिजली की तरह चलती गाड़ी से कूद पड़ा और उसके पीछे लिब-नेट भी चला। लिबनेट ने उसे रोकने की चेष्टा की पर वह तीर की तरह भीड़ के बीच में जा पहुँचा। वहाँ जाकर

मालूम हुआ कि एक औरत शराब पीकर अपने मर्द से लड़ रही है। मर्द उसको घर ले जाना चाहता था और वह पागलों की तरह शोर मचा रही थी। यह स्पष्ट था कि इस मामले में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता न थी और इस कारण उन दोनो ने वापस लौट जाना चाहा। पर उन मर्द और औरत ने इस मौके को अच्छा समझा और आपस का झगड़ा मिटाने के लिये वे इन दोनों से लड़ने लगे कि तुम हमारे बीच में बोलनेवाले कौन होते थे। दर्शक लोग भी उन पर बिगड़ने लगे क्योंकि वे विदेशियो का ऐसे मामलों में बोलना नापसन्द करते थे। खास कर औरत का मिजाज हद से ज्यादा गर्म हो उठा और वह उनको बुरी-बुरी गालियाँ देने लगी। उसका ध्यान विशेष रूप से मार्क्स की काली चमकीली डाढ़ी पर लगा हुआ था। लिबनेट ने लोगो को ठंडा करने की कोशिश की पर कुछ लाभ न हुआ। अगर उसी समय दो हट्टे-कट्टे पुलिस कान्सटेबिल आकर भीड़ को न हटा देते तो मार्क्स को अपनी परोपकारिता के लिये ऐसा फल मिलता जो उसे सदा याद रहता। इस घटना के बाद से वह ऐसे मामलों में जरा सोच-विचार कर हाथ डालता था।

इस जगत् प्रसिद्ध विद्वान् का स्वभाव कैसा सरल और निरभिमानी था इस बात को जानने के लिये सब से अच्छा उपाय उसको अपने बच्चो के साथ में देखना था। जब

उसे फुरसत रहती या वह कहीं घूमने को जाता तो वे उसे चारों तरफ से घेरे रहते और वह उनके साथ इस तरह खेलता कि सचमुच बच्चा ही जान पड़ता। जब वह अपने साथियो के साथ जंगल की सैर को जाता तो कभी-कभी वे लोग 'घुड़सवार का खेल' खेलते। एक लड़की को मार्क्स अपने कंधे पर बिठा लेता और दूसरी उसके मित्र लिबनेट के कंधे पर बैठ जाती। इसके बाद वे दोनो उछल-उछल कर चलते और एक दूसरे से आगे निकलने की कोशिश भी करते। मार्क्स के लिये बच्चो की सङ्गत एक आवश्यक बात थी, क्योंकि इससे उसकी थकावट मिट जाती थी और वह ताजा हो जाता था। जब उसके अपने बच्चे बड़े हो गये या मर गये तो वह अपने नातियो के साथ खेलता रहता था।

बच्चो और स्त्रियो के सामने मार्क्स इतनी अधिक सभ्यता और सङ्कोच का बर्ताव करता था कि उसे देखकर उसके मित्रो को बड़ी हँसी आती थी। जब उसके यहाँ दस-पाँच मित्रों की मण्डली बैठती और बातचीत में कभी-कभी शृङ्गार-चर्चा शुरू हो जाती तो वह बड़ा बेचैन हो जाता और बार-बार कुर्सी पर उठता-बैठता और इधर-उधर झाँकता। एक दिन उसके मित्र शृंगार-रस का एक गीत गाने लगे। उस समय मार्क्स की पत्नी बाहर गई थी और दासी हेलन तथा लड़कियों का भी पता न

था। इसलिये वे लोग खुलकर गाने लगे। मार्क्स भी मण्डली मे खुशी के साथ बैठा था और कभी-कभी गाने में साथ भी देता जाता था। इतने में उसे बगल के कमरे में लड़कियों के बोलने की आवाज सुनाई दी और तुरन्त उसका भाव बदल गया। वह बड़ी बेचैनी से खड़ा हो गया और फुसफुसा कर कहने लगा—"चुप—चुप, लड़कियाँ सुनती है।" उस समय लड़कियाँ बहुत छोटी थीं और वह गाना भी ऐसा न था जिसे वे समझ सकतीं या जो उनके चरित्र के लिये हानिकारक सिद्ध होता। उसकी ऐसी सलज्जता देखकर सब दोस्त हँसने लगे। पर मार्क्स यही कहता रहा कि ऐसे गीत बच्चों के सामने नहीं गाने चाहियें। इस घटना के बाद उसके मित्रो ने कभी उसके घर में शृंगार-रस के गाने नहीं गाये।

मनोविनोद

मार्क्स को शतरंज खेलने का शौक था। यद्यपि वह इसमें बहुत होशियार न था तो भी बड़े उत्साह के साथ खेलता था। जब उसकी चाल बहुत दब जाती तो उसका मिजाज बिगड़ जाता और जब वह हार जाता तो बड़ा नाराज होता। वे लोग प्रायः ओल्ड कोम्पटन स्ट्रीट में, जहाँ बहुत से जर्मन साम्यवादी सस्ते किराये के घरों में

रहते थे, शतरंज खेला करते थे, और उनके पास हमेशा अङ्गरेज तमाशाइयों की भीड़ लगी रहती थी। जर्मन लोगों के स्वभावानुसार ये लोग खूब शोर मचाकर खेलते थे और इससे अङ्गरेज तमाशाइयो को बड़ा मजा आता था।

एक दिन मार्क्स बड़े उत्साह के साथ खेलने के मुकाम पर आया, और कहने लगा कि आज उसने एक नई चाल निकाली है जिससे वह सबको हरा देगा। दूसरे लोग भी जोश में आ गये और शतरज का द्वन्द्व-युद्ध जोरो से होने लगा। मार्क्स का कहना सच था और उसने एक-एक करके सब खिलाड़ियो को हरा दिया। पर धीरे-धीरे वे लोग भी उसकी चाल को समझ गये और अन्त मे लिबनेट ने उससे बाजी जीत ली। वह बड़ा नाराज हुआ, पर समय ज्यादा हो गया था इसलिये उसने लिबनेट को दूसरे दिन दोपहर के समय अपने घर पर आने को कहा। दूसरे दिन लिबनेट ग्यारह बजे ही उसके यहाँ जा पहुँचा और दोनो खेलने को बैठ गये। मार्क्स ने आज फिर एक नई चाल निकाली थी और थोड़ी ही देर में उसने लिबनेट को हरा दिया। फिर दूसरी बाजी शुरू हुई और इस बार लिबनेट की जीत रही। इसी प्रकार वे दिन भर खेलते रहे और भोजन करने तक को नही उठे। दासी ने कुछ जल-पान एक तश्तरी में लाकर रख दिया, उसी को खेलते-खेलते खाते रहे। अन्त मे लिबनेट ने उसे लगातार दो बार

हराया। उस समय आधी रात का समय हो चुका था। मार्क्स और खेलने के लिये जिद करने लगा पर दासी हेलन ने, जो कि मार्क्स की पत्नी की अधीनता मे समस्त घर की हाकिम बनी हुई थी, आकर कहा—"अब खेलना बन्द करो।" लिबनेट उठकर चला गया।

दूसरे दिन हेलन लिबनेट के घर पहुँची और उससे कहा कि मार्क्स की पत्नी ने आप से निवेदन किया है कि आप मार्क्स के साथ रात में कभी शतरंज न खेलें। क्योंकि जब वह हार जाता है तो उसका मिजाज बड़ा चिड़चिड़ा हो जाता है, और कल रात को इसी कारण उसकी अपनी पत्नी से बहुत कुछ कहा-सुनी हो गई।

मार्क्स का दूसरा शौक तम्बाकू पीना था। जिस प्रकार अन्य सब कामों को वह पूरी लगन के साथ करता था उसी प्रकार इस विषय में भी बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इङ्गलैंड की तम्बाकू उसको अधिक तेज मालूम होती थी इसलिये जब उसके पास काफी पैसा होता तो वह सिगार खरीदता था। इन सिगारों के आधे हिस्से को वह चबा डालता था और आधे को पीता था, जिससे दोनों तरह का मजा मिल सके। पर सिगार इङ्गलैंड में बहुत महँगे मिलते थे और इसलिये वह सदा सस्ती चीज की तलाश में रहा करता था। इन सस्ते और रद्दी सिगारों से उसके

मित्र बड़ी नफ़रत करते थे और इनको पीते-पीते उसकी तम्बाकू-सम्बन्धी अनुभव-शक्ति बिल्कुल जाती रही थी। तो भी वह इस बात का दावा करता था कि वह अच्छे-बुरे सिगारों की परख खूब जानता है। इससे चिढ़कर दोस्तो ने उसको छकाने की एक चाल चली। एक दोस्त, जो उसी दिन जर्मनी से आया था, अपने साथ कुछ बढ़िया सिगार लाया। सब लोग उनको बड़े शौक से पीने लगे। जैसे ही मार्क्स कमरे मे घुसा उसने कहा—"वाह, इस सिगार मे तो बड़ी खुशबू आ रही है।" एक दोस्त बोला—"हां, यह असली हवाना सिगार हैं जिनको ·····अपने साथ जर्मनी से लाया है।" यह कह कर उसने एक सिगार मार्क्स को दिया और वह बड़े शौक से उसे पीने लगा। यह सिगार देखने मे वैसा ही था जैसा वे सब पी रहे थे, पर वास्तव मे वह लन्दन में मिल सकनेवाला सबसे खराब सिगार था, जिसे वे मार्क्स को छकाने के लिये ख़ास तौर पर ढूँढ़ कर लाये थे। मार्क्स ने उसे पीते हुए कहा—"मेरा ख़्याल था कि जर्मनी के सिगार बड़े खराब होते हैं, पर यह वास्तव में बहुत बढ़िया है।" दोस्तों ने भी गम्भीर चेहरा बनाकर सिर हिला दिया, यद्यपि उनका पेट हँसी के मारे फटा जाता था। कुछ दिनों बाद उसको असली बात बतलाई गई, पर उसने उसे सच न माना और यही कहता रहा कि वह

असली हवाना सिगार था और अब ये लोग उसको चकमा देना चाहते हैं।

कभी-कभी इस सिगार के शौक के कारण और भी मजेदार घटनायें होती थीं। मार्क्स बहुत दिनो तक एक तरह का सिगार पीता रहा जो अङ्गरेजो के ख्याल से बहुत सस्ता और वाहियात था। एक दिन उसे रास्ते में उससे भी सस्ता सिगार दिखाई दिया जिसका दाम पहले सिगार की अपेक्षा फी बक्स डेढ़ शिलिङ्ग कम था। इस बात ने उसके अर्थशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को जागृतकर दिया, और वह कहने लगा—"इस सिगार का एक बक्स पीने से डेढ़ शिलिङ्ग की बचत होती है ; इसलिये इसको जितना अधिक पिया जायगा उतनी ही अधिक बचत होगी ! अगर हर रोज एक बक्स पी डाला जाय तो सप्ताह मे साढ़े दस शिलिङ्ग और महीने मे पैंतालिस शिलिङ्ग की बचत होगी।" इस 'सिद्धान्त' के अनुसार वह उस सिगार को खूब पीने लगा और एक दिन उसने अपने मित्रो के सामने हास्य-रसपूर्ण व्याख्यान देते हुये इसका प्रतिपादन भी किया। पर कुछ महीने बाद पारिवारिक डाक्टर को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने मार्क्स को इस प्रकार 'बचत' द्वारा धनवान बनने से रोक दिया।

जैसा वर्णन किया जा चुका है, लन्दन-वास के आरम्भिक दिनों में मार्क्स को बड़ा अर्थ-कष्ट था और उसके

साथी दूसरे निर्वासितों की भी यही दशा थी। यहाँ तक कि कितने ही भोजन के बिना मर भी जाते थे। पर उन दिनो भी मार्क्स या किसी अन्य निर्वासित के चेहरे पर विषाद की रेखा दिखाई नहीं देती थी, वरन् उन पर जितनी अधिक मुसीबतें आती थीं, उतना ही अधिक वे हँसते थे, यहां तक कि कभी-कभी स्कूली लड़कों के समान शैतानी भी करने लगते थे। मार्क्स का अधिकांश वक्त यद्यपि अध्ययन और आन्दोलन मे जाता था तो भी समय-समय पर वह इस हँसी-मज़ाक में भाग लेने से नहीं चूकता था, और उस अवसर पर वह इस बात का कुछ भी ध्यान न रखता था कि वह श्रमजीवी आन्दोलन का सबसे बड़ा नेता है।

एक दिन शाम के समय मार्क्स का मित्र एडगर बौर उससे मिलने को आया। उसने मार्क्स और लिबनेट से प्रस्ताव किया कि सब लोग मिलकर बाजार की सैर को चलें और आक्सफोर्ड स्ट्रीट तथा हैम्पस्टीड रोड के बीच में जितने भोजनालय हैं उन सबमे चलकर 'बीयर' (जौ से बनी एक हलकी शराब जो थोड़ा नशा भी करती है) का नमूना चखें। यह काम सहज न था, क्योंकि इस स्थान में भोजनालयों की संख्या बहुत ज्यादा थी और यदि वे प्रत्येक में कम से कम 'बीयर' भी पीते तो भी सब मिला कर उसका परिमाण अत्यधिक हो जाता। वे लोग उत्साह-

पूर्वक इस कार्यक्रम में प्रवृत्त हुये और टोटनहम कोर्ट स्ट्रीट तक बिना किसी दुर्घटना के चले गये। वहाँ उनको एक मकान में से गाने की आवाज सुनाई दी। मालूम हुआ कि श्रमजीवी दल के कुछ लोग एक उत्सव मना रहे हैं। ये लोग भी वहां गये और अपने कुछ परिचित मित्रों के साथ बैठ कर आनन्द मनाने लगे। बातचीत के सिलसिले में 'देशभक्ति' की चर्चा छिड़ी और धीरे-धीरे उसने विवाद का रूप धारण कर लिया। इन लोगो ने 'बीयर' की झोक में इङ्गलैंड के श्रमजीवी दलवालों पर कुछ आक्षेप किये जिससे आपस मे झगड़ा हो गया। वहाँ से वे किसी प्रकार अपनी इज्जत बचाकर भागे और मिजाज की गर्मी को कम करने के लिये बड़ी तेज चाल से रवाना हुये। रास्ते में एडगर बौर ठोकर खाकर पत्थरों के ढेर पर गिर गया। पड़े-पड़े वह चिल्लाया—"मुझे एक नई बात सूझी है"—और यह कहकर उसने स्कूल के शैतान लड़कों की तरह एक पत्थर का टुकड़ा उठाकर सड़क पर जलती हुई गैस की लालटैन में मारा जिससे वह चूर-चूर हो गई। यह देखकर मार्क्स और लिबनेट को भी अपने स्कूली-जीवन की याद आ गई और वे भी पत्थर उठाकर फेंकने लगे, जिससे चार-पाँच लालटैनें टूट गईं। उस समय रात के दो बजे थे और रास्ते में सन्नाटा छाया हुआ था। लालटैनों के टूटने की आवाज को पुलिस के एक पहरेदार ने

सुना और उसने सीटी बजाकर अपने दूसरे साथियों को बुलाया। अब ये लोग घबड़ाकर भागे और चार-पाँच सिपाही उनका पीछा करने लगे। चार-पाँच मिनट तक यह उत्तेजनापूर्ण दौड़ जारी रही और मार्क्स ने इस मौके पर ऐसी फुर्ती दिखलाई जिसकी उसके मित्र कभी आशा नहीं करते थे। अन्त में वे चक्कर काट कर एक छोटी गली में जा घुसे और सिपाहियो ने उनका पीछा करना छोड़ दिया। इसके बाद जब कभी इस घटना की याद आती तो वे खूब हँसते कि अगर पुलिसवाले पकड़ लेते तो श्रमजीवी दल के मुख्य नेताओं को किस प्रकार हवालात की हवा खानी पड़ती।

———

पाँचवां अध्याय

मार्क्स के साम्यवाद-सम्बन्धी सिद्धान्त

ऐतिहासिक भौतिकवाद

सन् १८४३ और ४४ के पश्चात् मार्क्स ने जिस प्रणाली को अपने अध्ययन का आधार बनाया उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद (Material Conception of History) कहते हैं। यह नाम हेगल के ऐतिहासिक आदर्शवाद (Idealistic Conception of History) के मुकाबले में रखा गया था। मार्क्स ने अपने किसी ग्रंथ में इस विवेचन-प्रणाली की विशेष रूप से व्याख्या नहीं की है। पर इसका तत्व 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' और 'दर्शनशास्त्र की दरिद्रता'

नामक पुस्तकों में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। 'अर्थ-शास्त्र की आलोचना' (On the Critique of Political Economy) नामक ग्रंथ की, जो सन् १८५९ में लिखा गया था, भूमिका में मार्क्स ने दो पृष्ठो मे इसकी व्याख्या की है, पर उसकी वाक्यरचना स्पष्ट नहीं है और साधारण आदमी उससे कुछ भी नहीं समझ सकता। वह इसकी व्याख्या के लिये एक स्वतंत्र तर्क-शास्त्र की रचना करना चाहता था, पर उसकी यह इच्छा समयाभाव से अधूरी रह गई। इस लिए हम उसकी दूसरी पुस्तकों में पाये जाने वाले अंशों के आधार पर इस विषय की विवेचना करते हैं।

मनुष्य-जाति के इतिहास पर साधारण दृष्टि डालने से ही हम को विदित हो जाता है कि मनुष्य विभिन्न युगों मे न्याय, सामाजिक संगठन, मजहब, राज्य, दर्शन, जमीन के अधिकार, व्यापार, दस्तकारी आदि के विषय मे विभिन्न मतो को सत्य अथवा असत्य मानते आये हैं। आज तक मनुष्य ने अनेक आर्थिक योजनाओं के अनुसार कार्य किया है और राज्य तथा समाज के अनेक स्वरूपों को स्वीकार किया है। उसको निरन्तर लड़ाई, झगड़ों, युद्धों और देश-त्याग आदि मे हो कर गुजरना पड़ा है। अब प्रश्न होता है कि मनुष्यों के विचारों और कार्यों में यह उलझन और विभिन्नता कैसे उत्पन्न हुई? इस प्रश्न को

उठाने से मार्क्स का उद्देश्य यह नहीं है कि वह न्याय, समाज, मजहब, व्यापार आदि सम्बन्धी मूल विचारों का पता लगाना चाहता है। उसकी सम्मति मे इनका विवेचन इतिहास में मौजूद है। वह तो उन कारणों, प्रवृत्तियों अथवा उन स्रोतों का पता लगाना चाहता है जो इन परिवर्तनों अथवा क्रान्तियो को और मानसिक तथा सामाजिक घटनाओं को उत्पन्न करते हैं। सारांश यह कि मार्क्स का लक्ष्य इन बातों के मूल की तरफ नही है वरन् इनके विकास की तरफ है—वह इतिहास को सञ्चालित करनेवाले नियमों का पता लगाना चाहता है।

मार्क्स इसका उत्तर देता है कि मनुष्य समाज को संचालित करनेवाली जो प्रधान शक्ति मनुष्यों के विवेक और विचारों मे परिवर्तन करती है, अथवा जो विभिन्न सामाजिक प्रणालियों और पारस्परिक विरोध की सृष्टि करती है, उसका जन्म विचारो से, भावनाओं से, विश्व-व्यापी ज्ञान से, अथवा सर्वव्यापी आत्मा से नही हुआ है, वरन् जीवन की भौतिक अवस्था या नियमो द्वारा हुआ है। इस लिये मनुष्य-जाति के इतिहास का आधार भौतिक है। यहाँ पर जीवन के भौतिक नियमों या अवस्थाओ (Material Conditions of Life) का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। इसका अर्थ है वह तरीका या मार्ग जिससे मनुष्य एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से और

प्राकृतिक परिस्थिति या अपनी आन्तरिक शारीरिक और मानसिक शक्तियो की सहायता से अपने सांसारिक या भौतिक जीवन का निर्माण करता है, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयोगी वस्तुओ को उत्पन्न करता है, बाँटता है और बदलता है।

जीवन की भौतिक अवस्थाओ या नियमो मे सबसे मुख्य नियम जीवनोपयोगी वस्तुओ को उत्पन्न करना है और इसका आधार उत्पादक-शक्तियो (Productive forces) पर रहता है। ये उत्पादक-शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक अचेतन और दूसरी चेतन। अचेतन शक्तियाँ ये हैं, भूमि, पानी, आबहवा, कच्चा माल, औज़ार, मशीने आदि। चेतन उत्पादक शक्तियाँ ये हैं; मजदूर, आविष्कारक, अन्वेषक, इञ्जिनियर आदि। जातिगत गुणो अर्थात किसी विशेष मनुष्य-समुदाय की जन्मसिद्ध योग्यता की, जिससे काम करने मे सुगमता हो, गिनती भी चेतन उत्पादक शक्तियों मे की जाती है।

समस्त उत्पादक-शक्तियों मे प्रधान स्थान शारीरिक और मानसिक श्रमजीवियों का है। वे ही पूँजीवादी समाज मे विनिमय-मूल्य (Exchange value) की सृष्टि करते हैं। दूसरा महत्व का स्थान आधुनिक यंत्रविद्या का है जो समाज मे उथल-पथल करनेवाली एक प्रधान शक्ति है।

यहाँ तक हमने उत्पादक-शक्तियों का वर्णन किया जो मार्क्स की दृष्टि मे वड़े महत्त्व की हैं। अब हम उत्पादन की स्थिति या नियमो (Conditions of Production) का वर्णन करते हैं। इस वाक्य से मार्क्स का आशय कानून और राज्य के स्वरूप और सामाजिक वर्ग या श्रेणियो के निर्माण से है। इन्हीं सामाजिक दशाओ के द्वारा सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम वनाये जाते हैं और मनुष्यों के उन पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय किया जाता है जिनसे उत्पत्ति का कार्य सञ्चालित होता है। उत्पादन या पैदावार के नियमो का निर्णय समाज मे रहनेवाले मनुष्य ही करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक सामग्री और शक्तियो की सहायता से भाँति-भाँति की वस्तुओं का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार, मस्तिष्क पर उत्पादक-शक्तियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वे सामाजिक, राजनीतिक और न्याय-सम्बन्धी विधानों; तथा मजहव, चरित्र और दर्शन-संवन्धी सिद्धान्तो का निर्माण करते हैं। इस विपय में मार्क्स ने एक जगह लिखा है।

"मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। वे यह कार्य अपनी इच्छानुसार अभिलाषित मार्ग से नहीं कर सकते, वरन् इसके विपरीत उनको उस मार्ग के अनुसार काम करना पड़ता है जो कि उनके सामने प्रस्तुत होता है और जिसे वे प्राप्त कर सकते हैं।"

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य उत्पादक कार्य और उसकी आवश्यकता के प्रभाव के अनुसार अपने समाज, राज्य-शासन, मजहब, दर्शन और विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों की रचना करते हैं। भौतिक उत्पत्ति नींव स्वरूप होती है और उससे उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक, मजहबी और दार्शनिक प्रणालियाँ उस नींव के ऊपर बने हुये भवन के समान होती हैं। यह भवन जितने अधिक अंशों में अपनी नींव के अनुरूप होता है, उतना ही वह मजबूत होता है और उतनी ही उसकी उन्नति तथा वृद्धि होती है।

इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिये यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। अति प्राचीन युग में थोड़े-थोड़े मनुष्य गिरोह बनाकर रहते थे और रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सङ्गठित होते थे। उनके देवता उनकी प्राकृतिक परिस्थिति के अनुरूप बनाये गये हैं और उनसे प्रकट होता है कि उस परिस्थिति का प्रभाव उन जङ्गली लोगों की मानसिक अवस्था, उनके मजहब, उनके चरित्र और उनके सामाजिक नियमों पर कैसा पड़ता था। सर्पों और सिंहो की पूजा उसी काल की निशानी है। मध्यकाल के क्षत्रिय सरदारों या जमींदारो का आधार भूमि-सम्बन्धी अधिकार और शहरों में होनेवाली दस्तकारी पर था। फलस्वरूप प्राचीन मजहबी विचार शीघ्र ही बदल गये और उनके स्थान पर नवीन मतो की उत्पत्ति हुई, जो कि

इस युग के विशेष-अधिकार-प्राप्त लोगों के हित के अनुकूल थे। जितने मजहबी, नैतिक और दार्शनिक विचार इस हित के विरोधी थे उनको जबर्दस्ती दबा दिया गया। वर्तमान पूँजीवादी समाज व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर रची गई है और वह समस्त सामूहिक और सहयोग-मूलक भावों के उच्छेद की चेष्टा कर रही है। यह समाज अपने स्वार्थ-साधन के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रचार करती है; श्रमजीवियो और सम्पत्ति का एक स्थान पर संग्रह करती है; सरदारी या जमींदारी की प्रथा और उसके समर्थक धार्मिक विश्वासों (जैसे, राजा ईश्वर का अंश है) को नष्ट करके उनकी जगह धार्मिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत विवेक के सिद्धान्त को फैलाने का उद्योग करती है। यह समाज व्यक्तिगत अधिकारो का प्रचार करती है और प्राचीन राजाओं के एकतंत्र शासन के विरुद्ध युद्ध करती है। यह पूँजीवादी समाज समस्त देश में एक राष्ट्रीयता का भाव फैलाने का उद्योग करती है जिससे व्यापार-व्यवसाय के लिये अधिक क्षेत्र प्राप्त हो सके। यह समाज एकतंत्र सत्ता का समर्थन वहाँ तक करती है जहाँ तक वह सरदारी या जमींदारी की विरोधी हो। पर जब एकतंत्र सत्ता स्वयं पूँजीवादी समाज की उन्नति में बाधक होने लगती है तो यह उसके विरुद्ध संग्राम करती है और एकतंत्र शासन को नष्ट करके उसके

स्थान में वैध राजसत्ता या प्रजातंत्र (इङ्गलैण्ड मे वैध राजसत्ता और फ्रांस में प्रजातंत्र शासन है) की स्थापना करती है। और ये सब काम इसलिये नही किये जाते कि कोई विलक्षण बुद्धिमान मनुष्य प्रबल विचारशक्ति द्वारा, अथवा नवीन ज्ञान का उदय होने से, अथवा ईश्वरीय प्रेरणा के फलस्वरूप इनके लिये उद्योग करता है। वरन् इन सब बातो का एकमात्र कारण वह प्रभाव है जो समाज के भौतिक आधार या आर्थिक नीव मे परिवर्तन होने से मनुष्यो के दिमाग पर पड़ता है।

मार्क्स फिर लिखता है—"मनुष्य के अस्तित्व का आधार उसके विवेक या अन्तरात्मा के आदेश पर नहीं होता वरन् विवेक और अन्तरात्मा का आधार उसकी सामाजिक स्थिति या दशा पर होता है।"

कोई मनुष्य, चाहे वह कैसा भी वीर या विद्वान् क्यों न हो, नवीन सामाजिक जीवन का निर्माण नही कर सकता, न उसके लिये कानून बना सकता है। वह केवल एक नौकर या कार्यकर्ता की भाँति होता है जो समाज के भौतिक आधार या आर्थिक दशा से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियो और विचार-धाराओं का अनुसरण करता है। तो भी यह सच है कि नौकर या कार्यकर्ताओ के ऊपर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। अगर उनमे व्यापक ज्ञान हो, वे उद्योगी प्रकृति के हो, विशेष योग्यता रखते हो, तो वे अपनी सीमा के

भीतर महान कार्य कर सकते हैं और उन्नति की गति को बहुत कुछ बढ़ा सकते हैं। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध आदि समस्त सफल धर्म-प्रचारक इसी श्रेणी के व्यक्ति थे।

मार्क्स लिखता है—"वर्तमान समय तक दार्शनिक लोग केवल संसार की व्याख्या करते आये हैं, परन्तु अब इसमें परिवर्तन करना आवश्यकीय है।"

हमने कई स्थानों पर 'स्वार्थ' या 'हित' शब्द का प्रयोग किया है। इससे हमारा मतलब व्यक्तिगत स्वार्थ से नहीं है, वरन् सार्वजनिक, सामाजिक अथवा वर्ग-सम्बन्धी स्वार्थ (Class Interest) से है। मार्क्स का मत है कि प्रत्येक आदमी अपनी व्यक्तिगत भलाई की दृष्टि से काम नहीं करता, वरन् जीवन के सबसे महत्व-पूर्ण अवसरों पर वह प्रायः व्यक्तिगत स्वार्थ के विरुद्ध काम करता है। क्योंकि वह समझता है कि उसका हित समाज अथवा अपने दल के हित में ही शामिल है। मार्क्स की सम्मति में इतिहास के निर्माण में व्यक्तिगत स्वार्थ का बहुत कम भाग होता है।

अब तक हमने समाज और उत्पत्ति के विभिन्न स्वरूपों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया। पर अभी हम यह नहीं जान सके हैं कि किस प्रकार उत्पत्ति और समाज का एक स्वरूप लुप्त हो जाता है और उसका स्थान दूसरा स्वरूप ग्रहण कर

लेता है। अर्थात् मनुष्य समाज में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं उनका मूल कारण क्या है ?

समाज मे होनेवाले क्रान्तिकारी परिवर्तनो का आधार दो प्रकार के घटना-समूहो पर होता है, जो यद्यपि कभी कभी संयुक्त दिखलाई पड़ते हैं पर जो सदा पृथक् रीति से काम करते है। इन घटना-समूहो मे से एक यंत्र-विद्या-सम्बन्धी है और उसके फल से उत्पादक शक्तियो में परिवर्तन होता है। दूसरा घटना-समूह, जो पहले घटना-समूह से उत्पन्न होता है, व्यक्ति-सम्बन्धी होता है और इसका सम्बन्ध सामाजिक वर्गों या दलों से होता है। अब हम पहले घटना-समूह अर्थात् यंत्र-विद्या-सम्बन्धी परिवर्तनों पर विचार करते हैं।

काम करनेवाले मजदूरों की बढ़ती हुई चतुराई, नवीन कच्चे माल और बाजारो का अन्वेषण, माल बनाने की नवीन पद्धति, औजार या मशीनों के आविष्कार, और व्यापार तथा विनिमय के अधिक उत्तम सङ्गठन के फल से जब उत्पादक शक्तियो की वृद्धि हो जाती है, तो समाज का भौतिक आधार अथवा आर्थिक नींव भी बदल जाती है। तब उत्पत्ति की पुरानी प्रणाली—माल तैयार करने का पुराना तरीका लाभदायक नही रह जाता। क्योकि माल बनाने का पुराना तरीका, पुराने सामाजिक विभाग, पुराने कानून, पुरानी शासन-संस्थायें, और विद्या-शिक्षा-

सम्बन्धी सिद्धान्त ऐसी उत्पादक शक्तियों के अनुकूल थे, जो या तो लुप्त होती जाती हैं या अब जिनका नाम निशान भी बाकी नहीं बचा है। फल यह होता है कि समाजरूपी भवन और उसकी आर्थिक दशा-रूपी नींव में सादृश्य नहीं रहता। इस प्रकार उत्पादक शक्तियाँ और उत्पत्ति की प्रणाली एक दूसरे के विरुद्ध हो जाती हैं।

प्राचीनता और नवीनता का यह विरोध धीरे-धीरे मनुष्यों के विचारों पर प्रभाव डालने लगता है। मनुष्य अनुभव करने लगते हैं कि वे एक नवीन जगत् के सामने खड़े हैं और एक नवीन युग आरम्भ हो रहा है।

इस घटना के फलस्वरूप समाज का संगठन बदलने लगता है। जो वर्ग या समूह पहले तुच्छ समझे जाते थे वे समाज में माननीय और सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं, और जिन वर्गों की पहले प्रधानता थी उनका पतन होने लगता है। जब कि समाज के मूल-आधार में इस प्रकार का परिवर्तन होने लगता है, उस समय प्राचीन मजहबी, कानूनी, दार्शनिक और राजनीतिक प्रणालियाँ अपनी चिरकालीन सत्ता से लिपटी रहती हैं और अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये हाथ-पैर मारती हैं, यद्यपि वे समय के परिवर्तन से अव्यवहार्य और निकम्मी हो जाती हैं और लोगों की मानसिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं

कर सकतीं। मनुष्य के विचार भी प्रायः परिवर्तन-विरोधी (स्थिति-पालक) होते हैं और वे समय की घटनाओं का अनुसरण धीरे-धीरे करते है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारी आँखें सूर्य को सदैव उस स्थान पर देखती है जहाँ से वास्तव मे वह आगे बढ़ चुका है, क्योंकि उसकी किरणो को हमारी आँखों तक पहुँचने में कई मिनट लगते हैं। तो भी धीरे-धीरे महान् विचारक उत्पन्न होने लगते हैं, जो कि नवीन परिस्थिति का रहस्य लोगो को समझाते हैं, और उसके अनुरूप नवीन भावनाओ और विचार-धाराओं को जन्म देते हैं। तब मनुष्यो का विवेक जागृत होता है, उनके हृदय मे सन्देह उत्पन्न होने लगता है, प्रश्न उठने लगते हैं और अन्त मे नवीन सत्य सिद्धान्तों का उदय होता है। और इस के फलस्वरूप आपस के मतभेद, वाद-विवाद, झगड़ों, फूट, वर्ग-कलह और क्रान्ति की उत्पत्ति होती है।

वर्ग-कलह (Class War) का विशेषरूप से वर्णन आगे चल कर किया जायगा, पर यहाँ भी सामान्य-रूप से उसका परिचय देना आवश्यक है। जिन प्राचीन जङ्गली मनुष्यों में (हवशी,भील और अन्य कितनी ही जङ्गली जातियाँ अब भी प्राचीन काल की अवस्थानुसार जीवन व्यतीत करती हैं) व्यक्तिगत जायदाद का अभाव है अथवा उसकी उन्नति नही हुई है उनमें न वर्ग-भेद है, न किसी

विशेप वर्ग का अधिकार है, और न वर्ग-विरोध है। गाँव के मुखिया, पंडित और पंच प्रचलित रीतियों, धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक नियमों के पालन कराने का ध्यान रखते हैं। पर जैसे ही व्यापार की वृद्धि के कारण या युद्धो के फल से प्राचीन प्रणाली का लोप होने लगता है और व्यक्तिगत जायदाद की वृद्धि आरम्भ होती है, वैसे ही उन लोगो में ऐसे वर्ग या समूह उत्पन्न होने लगते हैं जिनमें से कुछ के पास सम्पत्ति होती है और कुछ के पास नही होती। सम्पत्ति पर अधिकार रखनेवाला वर्ग शासन-कार्य का संचालन करता है, कानून वनाता है और नवीन प्रथाओं तथा संस्थाओं की सृष्टि करता है, और इन सब बातो का उद्देश्य होता है उस अधिकारी-वर्ग के हितो या स्वार्थों की रक्षा करना। उस वर्ग-भेद वाले समाज की बौद्धिक-धारा (ज्ञान-धारा) उसी प्रधान-वर्ग के हित या स्वार्थ के अनुकूल वहने लगती है, जिसके अधिकार मे सम्पत्ति होती है और जो शासन करता है। जब तक ये हित या स्वार्थ कुछ अंशों मे सर्वसाधारण की भी भलाई करते हैं, जब तक उत्पादक शक्तियो और उत्पादन-प्रणाली में बहुत अधिक विरोध पैदा नहीं होजाता, तब तक विभिन्न वर्गों या समूहों मे एक प्रकार का समझौता या सुलह बनी रहती है। पर जब उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-प्रणाली का भेद या विरोध विशेष बढ़ जाता है और उस प्रणाली से अधीन-वर्ग की

आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं, तो वर्ग-कलह आरम्भ हो जाती है। इसके फल से या तो कानूनी-समझौता (शासन-सुधार) होता है, अथवा उस समाज का नाश हो जाता है, अथवा नवीन सामाजिक प्रणाली का आविर्भाव होता है। यहूदी, यूनानी और रोमन लोगो का सम्पूर्ण इतिहास इस प्रकार के सामाजिक झगड़ो से भरा पड़ा है। भारतवर्ष के इतिहास में भी इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं हैं। इन लोगों ने सुधार-सम्बन्धी जितने कानून बनाये थे उन सबका उद्देश्य सामाजिक शान्ति स्थापित करना ही था। पर अमीर और गरीबो, कुलीन और छोटे वंश वालों, स्वतंत्र नागरिकों और गुलामों की कलह बराबर जारी रही और अन्त मे इन समाजो का उच्छेद हो गया। इन वर्ग-कलहों के फलस्वरूप हमारे ज्ञान-भंडार की बहुत कुछ वृद्धि हुई है। मध्ययुग मे सरदारों और व्यापारियो, जमींदारो और किसानो में कलह होती थी। वर्तमान युग के आरम्भ मे मध्यम-श्रेणी के लोग एकतंत्र-सत्तावादियो और राजाओ के विरुद्ध लड़े थे। आज कल श्रमजीवी-वर्ग पूँजीवालो से कलह कर रहा है, जिसके फल से विद्रोह और क्रान्ति का जन्म हो रहा है और अनेकों नवीन सिद्धान्तो का प्रचार हो रहा है।

इस ऐतिहासिक विरोध और कलह के फल से बौद्धिक (बुद्धि-सम्बन्धो) और राजनीतिक विरोध की उत्पत्ति

होती है। यह बौद्धिक विरोध मनुष्य-समुदायों के नेताओं या पैगम्बरों द्वारा विभिन्न मत-मतान्तरों के रूप में प्रकट होता है। उदाहरण के लिये हम बौद्ध और ब्राह्मण, एक-देशीय ईश्वर और सर्वदेशीय ईश्वर, मूर्तिपूजक और मूर्तिविरोधी, कैथलिक ईसाई और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई, भौतिकवाद और आदर्शवाद का नाम ले सकते हैं। ये मत-मतान्तर चाहे जैसे अमूर्त (सूक्ष्म) और आध्यात्मिक जान पड़ें, चाहे वे सांसारिक जीवन और भौतिक उत्पत्ति से कितने भी अलग क्यों न दिखलाई दें, पर यदि उनकी जड़ का – जन्मस्थान का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि वास्तव में समाज के आर्थिक आधार में परिवर्तन होने, इस आधार और उत्पत्ति की प्रणाली में विरोध उत्पन्न होजाने, और इस विरोध के कारण भिन्न-भिन्न वर्गों या दलों में कलह आरम्भ होने से ही उनकी उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार समस्त नैतिक, राजनीतिक, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रणालियों—जो प्रधानता पाने के लिये परस्पर में प्रतियोगिता करती रहती हैं—और समस्त एकदेशीय अथवा सर्वदेशीय युद्धों के तात्कालिक कारण चाहे कुछ भी हों, पर उनका मूल-आधार समाज की आर्थिक दशा ही है। आदर्शवाद और उपयोगितावाद, एकतंत्र और प्रजातंत्र, रक्षित-व्यापार और मुक्त-व्यापार, राज्य द्वारा आर्थिक

नियंत्रण और आर्थिक स्वतन्त्रता, समाजवाद और व्यक्तिवाद आदि जितने सिद्धान्तो की घोषणा की जाती है, उनके समर्थन मे उनके पक्षपाती चाहे जैसे उच्च और मानवीय कल्याण की भावनायुक्त तर्क क्यों न पेश करें और उनका उद्देश्य कैसा भी प्रशसनीय क्यों न बतलावें, यथार्थ मे उनकी उत्पत्ति समाज के भौतिक आधार और उत्पादन-प्रणाली द्वारा ही होती है।

मार्क्स और एञ्जिल्स ने अपने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' में इस ऐतिहासिक भौतिकवाद का सारांश निम्नलिखित शब्दो मे प्रकट किया है:—

"क्या इस बात के समझने के लिये किसी गम्भीर अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है कि मनुष्य की भौतिक अवस्था, सामाजिक सम्बन्ध, और सामाजिक जीवन की दशा में परिवर्तन होने से, उसके मानसिक भावो, विचारों और धारणाओ मे भी परिवर्तन हो जाता है?

"संसार के विचारो का इतिहास इसके सिवाय और कुछ नही बतलाता कि जैसे-जैसे भौतिक उत्पत्ति—पैदावार मे परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे ही बौद्धिक उत्पत्ति (ज्ञान-धारा) मे भी परिवर्तन होता रहता है। जिस युग मे जिस वर्ग या दल का शासन होता है उसी के विचारों की प्रधानता रहती है।

"जब कि लोग किन्ही ऐसे विचारो की चर्चा करते हैं

जिनसे समाज की कायापलट हो गई हो, तो उनकी बातों का असली मतलब यही होता है कि उन विचारों का बीज प्राचीन समाज में उत्पन्न हुआ था, और जैसे-जैसे जीवन-निर्वाह की प्राचीन प्रणाली नष्ट होती जाती है वैसे-वैसे ही प्राचीन विचारों का भी लोप होता जाता है।

"जब कि योरोप मे प्राचीन युग का अन्त हो रहा था और घोर अशान्ति फैली हुई थी तो प्राचीन धर्म का स्थान ईसाई मजहब ने ले लिया। (भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का उदय भी इसी प्रकार समाज के मूल आधार या आर्थिक दशा मे परिवर्तन होने से हुआ था)। इसी प्रकार जब अठारहवीं शताब्दी मे ईसाई मजहब का ह्रास हो रहा था और उसका स्थान बुद्धि-वाद (Rationalism) ग्रहण कर रहा था तो वहाँ के सरदारों और जमींदारों ने क्रान्तिकारी मध्यम-श्रेणीवालों के साथ प्राण-पण से युद्ध किया था। उस समय धार्मिक स्वतन्त्रता और विचारों की स्वाधीनता की जो आवाज उठी थी उसका मूल-कारण ज्ञान-संसार में स्वतन्त्र प्रतियोगिता का प्रवेश ही था।"

अब मार्क्स एक कदम आगे बढ़ता है। जब कि उत्पत्ति या पैदावार की प्रणाली, सामाजिक वर्ग-विभाग और सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम, उत्पादक शक्तियों के लिये बन्धन-स्वरूप बन जाते है, और जब विभिन्न वर्गों का

स्वार्थ-विरोध वर्ग-कलह का रूप धारण कर लेता है तो सामाजिक क्रान्ति का युग उपस्थित हो जाता है।

इस क्रान्ति-युग का तभी अन्त होता है जब कि सामाजिक प्रणाली, जिसमें अनेक परस्पर-विरोधी बातें घुस जाती हैं, उत्पादक शक्तियों को स्वतंत्र कर देती है, और उत्पत्ति की नवीन प्रणाली का निर्माण कर देती है, जो उत्पादक शक्तियों के अनुरूप हो। प्राचीन समाज जिसका नाश अवश्यम्भावी होता है, विस्मृति के गह्वर में लुप्त होने के पहिले जीवन के नवीन मार्ग का निर्माण कर देती है। जो मनुष्य इस नवीन समाज की वृद्धि के इच्छुक होते है वे अपने सामने आनेवाली समस्याओं को हल करने की चेष्टा करने लगते हैं। इन समस्याओं का जन्म क्रान्तिकारी भावनाओं द्वारा होता है।

इस तमाम विवेचन से सिद्ध होता है कि उत्पादक शक्तियो की उन्नति और पूर्णता ही मनुष्य जाति के विकास का सार या निष्कर्ष है। इस सम्बन्ध में मार्क्स लिखता है:—

"साधारण दृष्टि से हम एशियाई, आदिकालीन, मध्यकालीन और वर्तमान उत्पादन-प्रणालियो को मनुष्य-समाज की आर्थिक प्रगति के विभिन्न युग कह सकते हैं। वर्तमान पूँजीवादी समाज की उत्पादन-प्रणाली इस विरोध-युक्त शृंखला की अन्तिम कड़ी है। यह विरोध व्यक्तिगत

नही वरन् समाज की परिस्थिति द्वारा उत्पन्न होता है। साथ ही पूँजीवादी समाज के भीतर जो नवीन उत्पादक शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं वे इस विरोध को मिटाने का मार्ग भी प्रशस्त कर रही हैं। इस प्रकार यह पूँजीवादी समाज मनुष्य जाति के प्राग्-ऐतिहासिक-युग का अन्तिम अध्याय है।"

मनुष्य जाति का प्राग्-ऐतिहासिक-युग! यह कैसी भ्रम की बात है! अब तक समस्त इतिहासकार और अन्य लोग प्राग्-ऐतिहासिक-युग से उस काल को समझते हैं जब कि मनुष्य जङ्गली अवस्था में नङ्गा घूमा करता था, कच्चा मांस खाता था, और पत्थर के हथियारों से काम लेता था। वर्तमान पूँजीवादी समाज को, जिसकी प्रधानता के जमाने मे वैज्ञानिक उन्नति सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई है और जिसकी सभ्यता आदर्श होने का दावा करती है, प्राग्-ऐतिहासिक-युग की वस्तु बतलाना असत्य सा प्रतीत होता है। पर निश्चय ही यह पूँजीवाद, जिसका इतिहास अन्याय-पीड़ित और सम्पत्तिहीन लोगों के खून और आँसुओ की धारा से लिखा जा रहा है, प्राग्-ऐतिहासिक-युग का एक अंश है। क्योंकि विज्ञान की अनुपम उन्नति हो जाने पर भी, और मनुष्य को हवा में उड़ने और लाखो कोस दूर का हाल देखने की अकल्पित शक्ति प्राप्त हो जाने पर भी, यह पूँजीवादी समाज उसी वर्ग-कलह पर—एक दल के

द्वारा दूसरे दल के रक्त-शोषण पर आधार रखती है,जिस पर एक हजार वर्ष पहले की क्षत्रिय सरदारों की समाज और पाँच हजार वर्ष पहले की आदिकालीन या धार्मिक पुरोहितों की समाज आधार रखती थी। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पूँजीवाद द्वारा मनुष्य को वह उत्पादक शक्ति प्राप्त हुई है, जिस के द्वारा उसने भौतिक बंधनों और प्रकृति की गुलामी से छुट्टी पा ली है और वह वर्ग-कलह को त्याग कर मानसिक या बौद्धिक सभ्यता (ज्ञान-युग) का श्रीगणेश कर सकता है।

यह ऐतिहासिक भौतिकवाद (इतिहास का भौतिक दृष्टि से विवेचन) प्राकृतिक विज्ञान की अन्य शाखाओ के समान नीति अथवा आदर्श से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। यह एक स्वाभाविक सिद्धान्त है और हमारे सम्मुख एक विस्तृत क्षेत्र उपस्थित करता है। मनुष्य हजारो वर्ष तक निष्ठुर प्रकृति को अधीनता में रहकर कष्ट भोगता रहा और पाशविक दशा से छुटकारा पाने के लिये संग्राम करता रहा। पाशविक दशा से मुक्त होकर मनुष्य ने हजारो वर्ष तक समाज की स्थापना के लिये उद्योग किया। इस कार्य को पूरा करने मे उसे असंख्यों यंत्रणायें भोगनी पड़ीं और इसके द्वारा उसकी बुद्धि और मानसिक शक्तियों का भी बहुत विकास हुआ। पर इतने पर भी मनुष्य न्याय के आदर्श और मानवीय अधिकारों को प्राप्त न कर सका।

यह ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास-सम्बन्धी अन्वेषण के लिये बड़ा उपयोगी है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें मार्क्स से पहले अन्य विचारकों को भी मालूम थीं। सन् १७६० से १८२५ तक योरोप मे जो सामाजिक क्रान्ति हुई थी और इङ्गलैण्ड की व्यवसायिक क्रान्ति के कारण जो हलचल उत्पन्न हुई थी, जिसके फल से सब जगह खेती के स्थान मे व्यापार को प्रधानता मिल गई, ये ऐसी बातें थीं जिनकी तरफ मनुष्यों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। इनके कारण बुद्धिमान लोगों का ध्यान ऐतिहासिक भौतिकवाद की तरफ जाने लगा था। पर इस सिद्धान्त को हेगल की तर्क-प्रणाली की सहायता से सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर अन्वेषण का एक मार्ग बना देने और उसका उपयोग साम्यवाद तथा इतिहास की खोज मे करने का श्रेय मार्क्स को ही प्राप्त है।

वर्ग और वर्ग-कलह

मार्क्स ने ऐतिहासिक घटनाओं के समझने के लिए जिन सिद्धान्तों का आविष्कार किया है उनमें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामाजिक वर्गों और वर्ग-कलह का है। यद्यपि मार्क्स से पहले भी कुछ इतिहासकारों और राजनीति-विशारदो ने राजनीतिक और सामाजिक

हलचलों का विवेचन करते हुये विभिन्न वर्गों का वर्णन किया था; पर इस सिद्धान्त के वास्तविक रूप और महत्व को सबसे पहले मार्क्स ने ही समझा और उसीने इसे निश्चित स्वरूप देकर राजनीतिक और सामाजिक विचार-प्रणाली का एक आवश्यक अङ्ग बनाया। वह इस विषय मे अपने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' में लिखता है:—

"साम्यवादी और कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों का, अर्थात् सेंट साइमन, फूरियर, ओवेन और अन्य लोगों द्वारा प्रचारित मतों का जन्म उस काल में हुआ था जब कि पूँजीवालों और श्रमजीवियो की कलह आरम्भ ही हुई थी। इन मतों के संस्थापक इस वर्ग-कलह को देखते और समझते थे और समाज के वर्तमान-स्वरूप के भीतर पृथक्ता उत्पन्न करनेवाले तत्वों के फल का भी उनको ज्ञान था। पर श्रमजीवी दल उस समय बाल्यावस्था मे था और उसका ऐतिहासिक महत्व अथवा राजनीतिक आन्दोलन में उसका स्वतंत्र स्थान उनको कुछ भी ज्ञात न होता था।"

मनुष्य-समाज का विभिन्न दलों या वर्गों में विभाजन या बांटा जाना एक ऐसी तर्कसिद्ध या विचार-शक्ति द्वारा जानी हुई बात है, जैसी कि दूसरे प्राणियों, वृक्षों, और धातुओ का विभिन्न श्रेणियों में विभाजन। मनुष्यों का एक दल जिसमें समान गुण-कर्म पाये जाते

हों, समाज-विज्ञान द्वारा किसी एक श्रेणी में रख दिया जाता है। यह श्रेणी-विभाजन (बँटवारा) केवल प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा नहीं किया जा सकता। आजकल के मनुष्यों की शक्ल-सूरत देखकर कोई नही बतला सकता कि अमुक मनुष्य पूँजीपति है और अमुक श्रमजीवी। इसलिये श्रेणी-विभाजन के लिये हमको विज्ञान द्वारा निश्चित कुछ चिह्नो को ढूँढ़ना पड़ता है। मार्क्स के मत से इस काम के लिये आर्थिक आधार ही सत्य है और आर्थिक लक्षणों द्वारा ही मनुष्यों को विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। उसके विचारानुसार जिस उपाय से कोई मनुष्य-समुदाय अपनी रोजी कमाता है वही उसका प्रधान लक्षण है। जिन मनुष्यों की रोजी या जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन तनख्वाह या मजदूरी है वे श्रमजीवी-वर्ग में समझे जाते हैं। और जिन मनुष्यो की रोजी का मुख्य साधन पूँजी (अर्थात् जमीन, मकान, कारखाने, खानें आदि) का अधिकार है, वे पूँजीपति-वर्ग मे समझे जाते हैं। इस बात का विशेष महत्व नहीं कि कोई मजदूर, उदाहरण के लिये, बैंक में कुछ रुपया जमा करता है और उससे थोड़ा सा व्याज पा जाता है। अथवा कोई पूँजीपति स्वयं अपने व्यापार की देखभाल या अपने कारबार का प्रबन्ध करता है और इस तरह उसको मैनेजर की हैसियत से कुछ तनख्वाह भी मिल जाती है। इसमें ध्यान देने की

बात यही है कि श्रमजीवी या मजदूर का आधार खास कर मजदूरी पर रहता है और पूँजीपति का अपनी जायदाद पर। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी सामाजिक वर्ग के सब लोग एक समान नहीं हो सकते। वनस्पति-जगत् और प्राणी-जगत् की श्रेणियों की तरह मनुष्यों के सामाजिक वर्गों को भी अनेक हिस्सों में बाँटा जा सकता है। जैसे श्रमजीवियों में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको दिमाग से काम करना पड़ता है और तनख्वाह भी अच्छी मिलती है; और कुछ जानवरों की तरह मिहनत करते हैं और पेट भर खाने को भी नहीं पाते। पर उन सबमें एक लक्षण अवश्य समान रूप से पाया जाता है कि वे अपने परिश्रम से रोटी पैदा करते हैं। इसी प्रकार पूँजीपतियों में जो लक्षण समान रूप से पाया जाता है वह यह है कि उनका पैदावार के साधनों पर अधिकार रहता है और उसीसे वे अपनी रोजी पाते हैं।

मार्क्स कहता है कि इन दो वर्गों के बीच में बहुत गहरा और अमिट विरोध रहता है, जिसके फल से वर्ग-कलह उत्पन्न होती है। यह विरोध मुख्यतया आर्थिक होता है। श्रमजीवी अपने श्रम को ज्यादा से ज्यादा कीमत पर बेचने की कोशिश करते हैं, अर्थात् अधिक से अधिक मजदूरी वसूल करना चाहते हैं। दूसरी तरफ पूँजीपति इस श्रम को कम से कम दाम में खरीदने का उद्योग करते

हैं अर्थात् कम से कम मजदूरी देना चाहते हैं। यह विरोध वास्तव में सिद्धान्त पर आधार रखता है। ऊपर से ऐसा मालूम होता है कि यह विरोध दुकानदार और ग्राहक का साधारण विरोध है। पर वास्तव में इसमें और साधारण खरीदने-बेचने में बड़ा अन्तर है। अगर श्रम-जीवी अपनी वस्तु अर्थात् श्रम को जल्दी न बेचे तो भूखों मरने लग जाय। इसलिये श्रमजीवी पूँजीपति की इच्छा-नुसार मजदूरी पर काम करने को लाचार होता है और इस प्रकार पूँजी के स्वामी के पास एक ऐसी शक्ति रहती है जो श्रम के स्वामी पर अत्याचार करती है।

यह विरोध श्रमजीवियों को अपना संगठन करने की तरफ प्रवृत्त करता है और श्रमजीवी-संघों (ट्रेड-यूनियनों) का जन्म होने लगता है। यह मजदूर-संघों का निर्माण वर्ग-कलह की पहली सीढ़ी है। पर जब श्रमजीवी इस बात को समझ जाते हैं कि उनकी पराधीनता आकस्मिक अथवा अस्थायी नहीं है वरन् निजी जायदाद की आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप है, और यह तब तक कायम रहेगी जब तक यह प्रणाली जीवित है, तथा इस प्रणाली को नष्ट करके इसके स्थान पर एक ऐसी प्रणाली स्थापित की जा सकती है जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर समस्त जनता का अधिकार रहे, तो मजदूर-संगठन की वृद्धि होने लगती है और वर्ग-कलह भी उग्र-रूप धारण कर लेती है। श्रमजीवी

लोग वर्ग-कलह मे तभी अच्छी तरह भाग लेते हैं जब वे साम्यवादी ढंग से विचार करना सीख जाते हैं, जब कि उनका विरोध-भाव मजदूरी-सम्बन्धी सामयिक झगड़ों और मजदूर-सघ के आन्दोलन को पार करके व्यापक रूप धारण कर लेता है, जब वे एक दल में संगठित होकर वर्तमान कष्टों का ख्याल न करके भविष्य-निर्माण की चेष्टा करने लगते हैं, और जब वे समाज के मूल आधार को व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियम से हटाकर सार्वजनिक सम्पत्ति के नियम पर स्थापित करने को कटिबद्ध हो जाते हैं। तब श्रमजीवी इस बात को अच्छी तरह समझ जाते हैं कि समाज की वर्तमान दशा मे उनको न स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है न समता। तब वे जान जाते हैं कि उनके उद्धार का एकमात्र मार्ग साम्यवाद ही है।

पर कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनके कारण ऊपरोक्त क्रम मे गड़बड़ पड़ कर वर्ग-कलह बीच मे ही रुक सकता है। अगर श्रमजीवी अपने उद्धार के कार्य को अपने हाथों मे लेने को तैयार न हो, उनको यह विश्वास न हो कि हमारे भीतर अपने कष्टों को दूर कर सकने की शक्ति है, तो वे साधारण सुधारों पर ही संतोष कर लेते हैं अथवा कुछ उदार-हृदय तथा परोपकारी पुरुषों की सहायता पर विश्वास करके शान्त हो जाते हैं। ऐसी हालत में श्रमजीवी आन्दोलन की क्रमशः वृद्धि रुक जाती है। योरोप में

साम्यवादी आन्दोलन के आरम्भ में ठीक यही दशा हुई थी। उस समय श्रमजीवी इस बात को समझ गये थे कि उनके उद्धार का एकमात्र रास्ता साम्यवाद ही है, पर उनमें अपने उद्धार का कार्य अपने हाथ में लेने की शक्ति न थी। आजकल हमारे भारतवर्ष में भी प्रायः यही दशा हो रही है। यही वह युग है जिसको मार्क्स काल्पनिक साम्यवाद का जमाना बतलाता है। इस युग में कुछ उन्नत-चरित्र पुरुषों ने साम्यवादी विचारों का प्रचार किया और श्रमजीवी समुदाय की भलाई के लिये अनेकों योजनायें बनाई तथा अनेक प्रयोग किये। ये उन्नत-चरित्र पुरुष अच्छी तरह जानते थे कि श्रमजीवी शक्तिहीन हैं, उनमें संगठन का अभाव है। इसलिये उनका ध्यान लोक-हितैषी और दयालु शासकों की तरफ आकृष्ट हुआ, और उन्होंने उनको यह समझाने की चेष्टा की कि विवेक, न्याय और जनता के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य किया जाय और श्रमजीवियों में फैली दरिद्रता और दुर्गति का नाश किया जाय। पर जब उद्योग-धन्धों की वृद्धि विशेष रूप से होने लगी, यंत्रों का प्रचार बढ़ने लगा, उत्पत्ति और विनिमय के साधन एक स्थान में एकत्रित होने लगे, और इन सब बातों के फल से श्रमजीवियों की संख्या, शक्ति, संगठन और वर्ग-ज्ञान की उन्नति तथा वृद्धि हुई तो उपरोक्त काल्पनिक

साम्यवाद का अन्त हो गया। विशेष कर उत्पत्ति और विनिमय के साधनों के एक स्थान में एकत्रित होने से ही श्रमजीवियो के लिये यह सम्भव हो सका है कि वे समस्त उद्योग-धन्धो और समाज के जीवन-निर्वाह के कार्यो को एक साथ बन्द कर दें और इस उपाय द्वारा समस्त समाज को यह विश्वास दिला दें कि श्रमजीवी समुदाय ही समाज के आर्थिक जीवन का प्राण है।

इसी समय उन साम्यवादी विचारकों का उदय होने लगता है जो साम्यवाद का केवल उचित और न्यायानुकूल होना ही सिद्ध नही करते वरन् इस वात का प्रमाण देते हैं कि साम्यवाद की नवीन आर्थिक प्रणाली का निर्माण वर्तमान पूँजीवादी समाज के गर्भ में हो रहा है और इसलिये श्रमजीवियों की आकांक्षायें सामाजिक विकास के अनुकूल हैं।

इस प्रकार काल्पनिक साम्यवाद से एक ऐसे विज्ञान-मूलक साम्यवादी आन्दोलन का जन्म होता है जिसका आधार वास्तविकता पर होता है और जिसे अपने वर्ग, अपनी शक्ति और अपने लक्ष्य का अच्छी तरह ज्ञान होता है। यह नवीन आन्दोलन पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के साथ निश्चयात्मक रूप से युद्ध आरम्भ करता है। यही वर्ग-कलह है जिसके फल से अन्त में सामाजिक क्रान्ति होने लगती है।

श्रमजीवियों और पूँजीपतियों का विरोध, जो आरम्भ मे मजदूरी और काम करने के घंटो के ऊपर होता है, कुछ समय वाद एक उत्तेजनापूर्ण संग्राम का रूप धारण कर लेता है। एक दल निजी जायदाद की प्रचलित प्रथा को कायम रखने के लिये लड़ता है और दूसरा साम्यवादी आर्थिक प्रणाली को जारी करने के लिये। इस प्रकार की महान् सामाजिक वर्ग-कलह स्वभावतः राजनीतिक वर्ग-कलह का रूप धारण कर लेती है। इस कलह का तात्कालिक उद्देश्य राज्य की शक्ति पर अधिकार जमाना होता है। क्योंकि पूँजीपति इस शक्ति को अपने अधिकार में रख कर इसके द्वारा अपनी रक्षा करने का उद्योग करते हैं, और श्रमजीवी इस पर विजय प्राप्त करके इसके द्वारा साम्यवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र मे श्रमजीवी किस मार्ग का अनुसरण करते हैं इसकी व्याख्या अगले अध्याय में की जायगी। यहाँ पर हम संक्षेप में यह वतलाना चाहते हैं कि मार्क्स के मतानुसार वर्ग-कलह का राजनीतिक विचारों पर क्या प्रभाव पड़ता है? मार्क्स से पहले लोग समझा करते थे कि राजनीतिक विचारों और राजनीतिक दलों की कलह का आधार कुछ विशेष सिद्धान्तों और महान् व्यक्तियों पर रहता है। उस समय आदर्शवाद और वीर-पूजा का दौरदौरा था। पर अब राजनीतिक विचार,

जानबूझ कर या अनज़ान में, वर्ग-सम्बन्धी या आर्थिक मार्ग का अनुसरण करते हैं। ऐतिहासिक अन्वेषण के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। राजनीतिक और ऐतिहासिक विचार-धारा में इस परिवर्तन का होना अधिकांश मे मार्क्स के जीवन-कार्य का ही फल है।

मार्क्स के वर्ग-कलह के सिद्धान्त के अनुसार यदि दृढता-पूर्वक चला जाय तो उसके फलस्वरूप लाल-क्रान्ति, श्रमजीवी पंचायतों, और श्रमजीवियों के एकाधिकार (Dictatorship of Proletariat) की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। अगर श्रमजीवी दल के अभ्युदय और वर्ग-कलह में वह शक्ति मौजूद है जिसके द्वारा सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और नवीन समाज की नींव पड़ सकती है, तो श्रमजीवियों का एकाधिकार सर्वथा न्याययुक्त है। ऐसे परिवर्तन-काल में जब कि निजी जायदाद की प्रथा नष्ट होकर साम्यवाद की स्थापना हो रही हो, लोकसत्तात्मक शासन—जिसमें श्रमजीवी और पूँजीपति दोनों का सम्मिलित होना आवश्यक है—न तो उचित है न सम्भव है। वैसे भी आजकल जिस प्रजातंत्र या लोकसत्तात्मक शासन की प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं वह एक नकली चीज है। क्योंकि जब तक आर्थिक असमानता कायम है तब तक गरीबो के लिये इस अधिकार का कोई उपयोग नहीं। 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' मे

प्रजातंत्र-सम्बन्धी राजनीतिक सुधारों के विषय में एक शब्द भीनहीं लिखा गया है। मार्क्स के विचारों के अध्ययन से यही मालूम होता है कि उसकी सम्मति में वर्तमान नकली प्रजातंत्र की अपेक्षा वर्ग-वाद का महत्व बहुत अधिक है। यह विचार वर्तमान बोलशेविज्म की उत्पत्ति का एक स्रोत है।

श्रमजीवी आन्दोलन का लक्ष्य

मजदूर-पार्टी श्रमजीवियों का राजनीतिक संगठन है, जिसका जन्म मजदूर-संघों के आन्दोलन से होता है। जैसे-जैसे मजदूर आन्दोलन दृढ होता जाता है और उसकी शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वसे मजदूर-पार्टी का प्रभाव भी बढ़ता जाता है और वह अपने निश्चित कार्यक्रम को पूरा कर सकती है। मजदूर-संघों को केवल वर्तमान प्रश्नों को हल करके ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिये, वरन् उनको श्रमजीवियों की उन समस्त आकांक्षाओं का ध्यान रखना चाहिये, जो सामाजिक परिवर्तन के फल से उत्पन्न होती रहती हैं। साथ ही उनको पूँजीवाद का अन्त करने का उद्योग भी करते रहना चाहिये। इस कार्य को सिद्ध करने का सबसे महत्वपूर्ण उपाय राज्यशक्ति पर अधिकार

जमाना है। इसकी सहायता से श्रमजीवी अपने सिद्धान्त के अनुसार समाज के पूँजीवादी स्वरूप को बदल कर उसको साम्यवाद के साँचे मे ढाल सकते हैं। इस परिवर्तन-युग में राजनीतिक दशा मे भी बदलाव होना आवश्यक है और उस समय श्रमजीवियो के क्रान्तिकारी एकाधिकार (Revolutionary Dictatorship of Proletariat) के सिवाय अन्य किसी प्रकार की शासन-पद्धति असम्भव है।

मार्क्स का कहना है कि इस 'श्रमजीवियों के एकाधिकार' के सिद्धान्त का जन्मदाता वह स्वयं ही है। सन् १८५२ में उसने अपने एक अमरीकन मित्र को लिखा था:—

"जहां तक मैं अपने सम्बन्ध में कह सकता हूँ मैं आधुनिक समाज मे विभिन्न वर्गों के अस्तित्व और उनकी पारस्परिक कलह के सिद्धान्त का आविष्कारक होने का दावा नहीं कर सकता। मध्यम-श्रेणी के इतिहासकार बहुत पहले वर्ग-कलह के विकास का वर्णन कर चुके हैं और कितने ही अर्थशास्त्रकारो ने आर्थिक दृष्टि से वर्गों के निर्माण का विवेचन भी किया था। मैंने इस सम्बन्ध में तीन नई बातो का पता लगाया है: (१) वर्गों के अस्तित्व का सम्बन्ध भौतिक उत्पत्ति की किसी विशेष अवस्था से होता है। (२) वर्ग-कलह का अन्तिम परिणाम श्रमजीवियो का एकाधिपत्य स्थापित होना है। (३) यह श्रमजीवियो का एकाधिपत्य, समस्त वर्गों के लोप होने और एक स्वाधीनता-

मूलक और समान-अधिकार-सम्पन्न समाज की स्थापना होने के लिये बीच की सीढ़ी है।"

सन् १८७० को छोड़कर मार्क्स अपने जीवन भर इस सिद्धान्त पर दृढ रहा। इस विषय में उसकी सम्मति सन् १८४७ में, जब कि उसने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' लिखा, और सन् १८७५ मे, जब कि उसने गोथा-प्रोग्राम का खण्डन किया, एक ही थी। इस सम्बन्ध में वह 'कम्यूनिस्ट मेनी-फेस्टो' में लिखता है :—

"मजदूरों की क्रान्ति में सब से पहला कदम यह होना चाहिये कि शासन की बागडोर श्रमजीवी दल के हाथ में आ जाय जिससे वे लोकसत्ता के युद्ध में विजय प्राप्त कर सकें।

"श्रमजीवी दल अपनी राजनीतिक प्रधानता का उपयोग धीरे-धीरे समस्त पूँजी को पूँजीपतियों के हाथ से छीन लेने और उत्पत्ति के समस्त साधनों को राज्य (अर्थात् संगठित श्रमजीवी दल के शासन) के अधिकार में करने के लिये करेगा। वह समस्त उत्पादक शक्तियों की शीघ्र से शीघ्र वृद्धि करने की भी चेष्टा करेगा।

"इसमे सन्देह नही कि आरम्भ में इस उद्देश्य की सफलता के लिये नये कानूनों द्वारा जायदाद के अधिकार और पूँजीवादियों की उत्पादनप्रणाली पर जबर्दस्ती आक्रमण करना पड़ेगा। यद्यपि ये कानून आर्थिक दृष्टि से

अपर्याप्त और समर्थन के अयोग्य जान पड़ते हैं, पर ये थोड़े ही समय के लिये होते हैं। कुछ समय पश्चात् इनको रद् करके प्राचीन सामाजिक प्रणाली पर नये ढङ्ग से आक्रमण करना पड़ता है।"

पर मान लो कि क्रान्ति के आरम्भ में शासन की बागडोर क्रान्तिकारी श्रमजीवी दल के हाथ में न आकर किसी अन्य दल के हाथ में, जैसे प्रजातन्त्रवादियो या शासन-सुधारवालो के हाथ मे चली जाय, तो श्रमजीवियों का क्या कर्त्तव्य है ? इस विषय मे मार्क्स का मत है कि "अपने को उस शासन-पद्धति से अलग कर लो और उससे युद्ध करो।" सन् १८५० मे 'कम्यूनिस्ट लीग' मे दिये हुये अभिभाषण मे उसने इस सम्बन्ध मे कहा था:—

"यह समझ लेना चाहिये कि भविष्य मे होनेवाली लाल-क्रान्तियों मे—जैसा कि भूतकाल की क्रान्तियो मे हो चुका है—श्रमजीवियों का साहस, दृढता और बलिदान का भाव ही विजय प्राप्त करने का मुख्य आधार होगा। जैसा कि आज तक हुआ है उसी प्रकार भविष्य में भी छोटी-मध्यम-श्रेणीवाले—अर्थात् पढ़े लिखे और औसत दर्जे के मालदार लोग—ऐसे अवसर पर जहाँ तक सम्भव होगा ढीलेपन और निष्क्रियता से काम लेंगे। वे श्रमजीवियो से चुप रहने, काम पर लौट जाने और किसी प्रकार की 'ज्यादती' न करने को कहेंगे और इस प्रकार उनको विजय

के फल से वञ्चित कर देंगे। उन लोगों को इस काम से रोक सकना श्रमजीवियों की शक्ति के बाहर है। पर यह उनकी शक्ति में अवश्य है कि वे उनका अधिकार श्रम-जीवी-दल के हथियारों पर न होने दें, उनके सामने ऐसी शर्तें पेश करें जिससे आरम्भ से ही उनके शासन की असफलता निश्चित हो जाय, और बाद में उसके स्थान पर श्रमजीवी शासन की सम्भावना बढ़ जाय।

"श्रमजीवियों का कर्तव्य है कि क्रान्ति के अवसर पर और उसके पश्चात् जहाँ तक सम्भव हो सके मध्यम-श्रेणी-वालो के साथ किसी प्रकार का समझौता होने का विरोध करें और प्रजातंत्रवादियो को अपनी अत्याचार की धमकियाँ पूरी करने को लाचार कर दें। उनको इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि क्रान्ति के बाद शीघ्र ही लोगों की उत्तेजना मे कमी न पड़ने पावे। इसके विपरीत जहाँ तक सम्भव हो देर तक इस उत्तेजना को कायम रखना चाहिये।

"श्रमजीवियों को कदापि प्रजातंत्रवादियो के अत्या-चारों को रोकने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, वरन् जिन व्यक्तियो द्वारा अथवा जिन सार्वजनिक स्थानों में अत्या-चार के कार्य हुये हैं, उनके उदाहरण देकर लोगो के जोश को भड़काना चाहिये। संग्राम के मध्य में और अन्त मे,

प्रत्येक अवसर पर श्रमजीवियों को प्रजातंत्रवादियों के साथ-साथ अपनी माँगें भी पेश करते रहना चाहिये। जैसे ही मध्यम-श्रेणी के प्रजातंत्रवादी अपनी सरकार कायम करना चाहें श्रमजीवियो को उनसे सुरक्षा की गारंटी माँगनी चाहिये, और नये शासकों को लाचार करके उनसे अधिक से अधिक अधिकारों और सुधारो की प्रतिज्ञा करानी चाहिये। इस उपाय से वे लोग निश्चय ही दुविधा में पड़ जायँगे। श्रमजीवियों को इस मौके पर पूरी दृढता और स्थिरता का भाव दिखलाना चाहिये और सरकार पर खुलेआम अविश्वास प्रकट करना चाहिये, जिससे नवीन शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में लोगों का उत्साह और क्रान्ति की सफलता से उत्पन्न गर्व ठण्डा पड़ जाय। नई सरकार के शासन के मुकाबले में श्रमजीवियों को मजदूर-पंचायत या श्रमजीवी-कमेटी के रूप मे अपना शासन स्थापित करना चाहिये। इससे मध्यम-श्रेणी की सरकार को मिहनतपेशा लोगों से किसी प्रकार की मदद न मिल सकेगी और उसके सामने एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हो जायगा, जिसके पीछे समस्त मजदूर दल होगा। इन सब बातों का आशय यही है कि जिस क्षण से विजय प्राप्त हो उसी क्षण से श्रम-जीवियों को उचित है कि पराजित शत्रु की निन्दा करने मे शक्ति खर्च न करके, अपने पुराने साथी प्रजातंत्रवालों के प्रति अविश्वास प्रकट करें, क्योंकि वे विजय के फल को अकेले

ही हड़प जाने की कोशिश करते हैं। श्रमजीवियों को सशस्त्र और संगठित रहना चाहिये, जिससे वे इस दल का, जो विजय के प्रथम क्षण से ही मजदूरों के साथ विश्वास-घात करने लगता है, अच्छी तरह विरोध कर सकें। श्रमजीवियों के लिये यह भी आवश्यक है कि वे पुराने ढङ्ग की सेना का संगठन न होने दें, जोकि उनके ही विरुद्ध काम में लाई जाती है। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो श्रम-जीवियों को अपनी अलग सेना बनानी चाहिये, जिसके सेनापति और अफसर उन्हीं में से हों और जो सरकार की नहीं वरन् श्रमजीवी-कमेटी की आज्ञा पालन करे। जो श्रमजीवी सरकारी नौकरी करते हो उनको हथियारबन्द होकर अपना अलग दल बनाना चाहिये जिसका अफसर या तो उन्हीं मे से हो या श्रमजीवी सेना का कोई व्यक्ति हो। उनको किसी भी बहाने से अपने हथियार और युद्ध-सामग्री सरकार के सुपुर्द नहीं करना चाहिये और यदि हथियारो को छीनने की चेष्टा की जाय तो बलपूर्वक उसका मुकाबला करना चाहिये। मध्यम-श्रेणी के प्रजातन्त्रवादियों के प्रभाव को श्रमजीवियों के ऊपर से हटाना, श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और सशस्त्र संगठन करना, नई सरकार के कामों में अधिक से अधिक रोड़ा अटकाना, और उसके शासन को असम्भव बनाना—यही उस समय श्रमजीवी दल का एकमात्र कार्यक्रम हो सकता है।

"अब हम इस बात को समझ चुके हैं कि प्रजातन्त्रवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन के कुछ अंशों में सफल हो जाने पर शासन की शक्ति प्राप्त करते हैं, और उस समय उनको लाचार होकर साम्यवादी प्रस्तावों के अनुसार अवश्य ही कुछ न कुछ काम करना पड़ता है। यहाँ पर प्रश्न किया जायगा कि श्रमजीवियों को उनके प्रस्तावों के मुकाबले में किस प्रकार के प्रस्ताव पेश करने चाहियें। यह सच है कि श्रमजीवी आरम्भ में पूर्णरूप से कम्यूनिस्ट सिद्धान्त के अनुसार प्रस्ताव नहीं कर सकते, तो भी वे नीचे लिखे ढङ्ग से काम कर सकते हैं: (१) प्रजातन्त्रवादियों को प्राचीन सामाजिक प्रणाली पर जितना अधिक हो सके आक्रमण करने को लाचार किया जाय, उनके निश्चित कार्यक्रम में बाधा डाली जाय, उनकी स्थिति को दुबिधा मे डाल दिया जाय, और जहाँ तक सम्भव हो पैदावार और माल ढोने के साधनों को राज्य के अधिकार मे लाया जाय। (२) जब प्रजातन्त्रवादी ऐसे प्रस्ताव पेश करे जो क्रान्तिकारी होने के बजाय केवल सुधार करने वाले हो, तो श्रमजीवियों को जोर देकर उनमें ऐसा संशोधन कराना चाहिये जिससे निजी जायदाद पर स्पष्ट आक्रमण होता हो। उदाहरण के लिए अगर प्रजातन्त्रवादी रेलो और कारखानों को खरीदने का प्रस्ताव करें, तो श्रमजीवियों को बतलाना चाहिये कि वे रेल,

कारखाने आदि लोकसत्ता के विरोधी लोगों की जायदाद हैं और उनको बिना किसी प्रकार का हर्जाना दिये राज्य की सम्पत्ति बना लेना चाहिये। अगर प्रजातन्त्रवादी अनुपात के अनुसार टैक्स लगाने का प्रस्ताव करें, तो श्रमजीवियों को अधिक सम्पत्ति पर अधिक दर से टैक्स लगाने का प्रस्ताव करना चाहिये। अगर प्रजातन्त्रवादी स्वय अधिक सम्पत्ति पर कुछ अधिक टैक्स लगाने का प्रस्ताव करें, तो श्रमजीवियों को इस बात पर जोर देना चाहिये कि सम्पत्ति की वृद्धि पर टैक्स को इस हिसाब से बढ़ाया जाय कि बड़ी-बड़ी जायदाद वालों का थोड़े ही दिन में दिवाला निकल जाय। अगर प्रजातन्त्रवादी राज्य के कर्ज को चुकाने का प्रस्ताव पेश करें तो श्रमजीवियों को राज्य के दिवालिया होने का प्रस्ताव पेश करना चाहिये। इस प्रकार श्रमजीवियों की माँग सदैव विशेष अधिकारों और प्रजातन्त्रवादियों के प्रस्तावों के विरुद्ध होनी चाहिये।...... ...प्रजातन्त्रवादी या तो देश को अनेक भागों मे बाँटने का उद्योग करेंगे, और यदि उनको इसमें सफलता न मिली, तो स्थानीय म्यूनिसपैलिटियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देकर राज्य की सत्ता को कमजोर करने की चेष्टा करेंगे। श्रमजीवियों को इस योजना का दृढतापूर्वक विरोध करना चाहिये और उनको केवल समस्त देश का संयुक्त-शासन स्थापित कराने की ही चेष्टा नहीं करनी चाहिये वरन् इस बात के

लिये भी उद्योग करना चाहिये कि राज्य के हाथ मे अधिक से अधिक शक्ति रहे। उनको प्रजातन्त्रवादियों के 'स्थानिक-स्वाधीनता' या 'स्वभाग्य-निर्णय' आदि के उद्‌गारों से धोखा न खाना चाहिये। उनका युद्ध-वाक्य अथवा पुकार सदा यही होनी चाहिये--इन्कलाब ज़िन्दाबाद—क्रान्ति चिरञ्जीव हो।"

इस अभिभाषण को मार्क्स ने सन् १८५० मे लिखा था और ६७ वर्ष बाद रूस के बोलशेविकों ने ठीक इसी के अनुसार काम करके, अपने मार्ग मे से सब विघ्न-बाधाओ को हटाते हुए, अन्त मे विजय पायी।

पर मार्क्स के मतानुसार केवल राजनीतिक विजय प्राप्त होने से श्रमजीवियों का उद्धार नहीं हो सकता। वह कहता है—"अपना उद्धार करने के लिये और जीवन की उस उच्च स्थिति को, जिसका वर्तमान समाज अनिवार्य रूप से विरोध करता है, प्राप्त करने के लिये श्रमजीवियों को बहुत दिनो तक संग्राम करना पड़ेगा। साथ ही ऐतिहासिक क्रम-विकास के सब दर्जों को भी पार करना उनके लिये आवश्यक है। इस बीच में मनुष्यों और परिस्थिति दोनों में परिवर्तन हो जायगा। उनको किसी विशेष आदर्श को पूरा करने की जरूरत नही है, वरन् उनका काम नवीन समाज के तत्वों को बंधनों से मुक्त कर देना है, जो इसी समय नष्टोन्मुख पूँजीवादी-समाज के गर्भ में प्रस्तुत हो रहे हैं।"

श्रमजीवियों के हाथों में शक्ति आने पर उत्पत्ति के साधनों पर धीरे-धीरे समाज का अधिकार होता जायगा; पैदावार सहयोगपूर्वक होने लगेगी; शिक्षा-प्रणाली में व्यवहारिक रूप से कार्य करने की तालीम भी सम्मिलित कर दी जायगी, जिससे समाज में रहनेवाले सब व्यक्ति जरूरी चीजें तैयार करने लगेंगे। जब तक यह परिवर्तन-काल समाप्त न होगा, कम्यूनिज्म का यह सिद्धान्तः—"हर एक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जाय और हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाय"—व्यवहार मे नही लाया जा सकता। क्योंकि आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी आदि सब क्षेत्रों में इस काल में प्राचीन सामाजिक प्रणाली की छाया वर्तमान रहेगी, और सिद्धान्त के नाम पर समाज के आर्थिक ढाँचे और उससे उत्पन्न होने वाली नवीन संस्कृति को नष्ट करना मूर्खतापूर्ण होगा। इस काल में हर एक को उसके काम के अनुसार ही दिया जायगा। इस सम्बन्ध में मार्क्स की योजना इस प्रकार है:—

"हर एक व्यक्ति समाज के लिये जितना काम करेगा उतना ही उसे वापस मिल जायगा। केवल इसका थोड़ा सा अंश शासन का कारबार चलाने और शिक्षा तथा अन्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काट लिया जायगा। समाज प्रतिदिन काम करने के घंटे नियत कर देगी और

उसके अनुसार जो व्यक्ति जितनी देर काम करेगा उतना ही उसका हिस्सा होगा। उसे एक सर्टीफिकेट दिया जायगा कि इस व्यक्ति ने इतनी देर काम किया है और उस सर्टीफिकेट को दिखाकर वह उतना सामान ले सकेगा जिसके उत्पन्न करने में उतना श्रम करना पड़ा हो। वह जितना श्रम एक रूप में समाज को देगा उतना ही श्रम दूसरे रूप में पा जायगा।"

चूँकि सब व्यक्तियों में काम करने की एक सी शक्ति और योग्यता नहीं होती. इस लिये इस परिवर्तनयुग में स्वभावतः वस्तुओं का बँटवारा असमान रूप में होगा। केवल सर्वाङ्गपूर्ण कम्यूनिस्ट समाज में, जब कि शारीरिक और बुद्धि-सम्बन्धी श्रम का अन्तर मिट जायगा, जब कि उत्पादक-कार्य ही जीवन की सर्वप्रधान आवश्यकता बन जायगा; जब कि व्यक्तियों और उत्पादक-शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास हो जायगा, और जब कि समाज के सब सदस्यों के पूर्ण सहयोग से सब तरह की चीजों की पैदावार खूब बढ़ जायगी, तभी वर्तमान पूँजीवादी समाज का 'स्वत्व' सम्बन्धी विचार त्यागा जा सकता है और उसके स्थान में कम्यूनिज्म का समानता का सिद्धान्त अमल में लाया जा सकता है।

मार्क्स ने जितनी दलीलें पेश की हैं वे सब पूर्णतया आर्थिक आधार पर स्थित हैं। उसके मतानुसार समाज

का सर्वोच्च लक्ष्य श्रमजीवियों का उद्धार होना चाहिये और उसी को निगाह में रख कर अन्य समस्त राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलनों का निर्णय करना चाहिये। यद्यपि श्रमजीवी आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय होना परमावश्यक है, तो भी मार्क्स राष्ट्रीयता के आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्व को नहीं भुलाता। वह उन जोशीले नौजवानों की हँसी उड़ाता है, जो समझते हैं कि राष्ट्रीयता का भाव एक गई-गुजरी चीज की तरह चुटकी बजाते मिटा दिया जायगा। पर इसके साथ ही वह राष्ट्रीयता को एकता उत्पन्न करने के लिये बहुत बड़ा साधन भी नहीं मानता। वह मनुष्य-जाति को अनेक विरोधी-दलों मे बँटा हुआ मानता है, और उसके मत से आर्थिक भेद राष्ट्रीय या राजनीतिक सीमाओ से अधिक प्रभावशाली होते हैं। इस लिये मार्क्स पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीयता का उपासक था। उसका मत था कि जैसे ही पूँजीवादी समाज का अधिकार तथा आधिपत्य नष्ट होने लगे, वैसे ही विभिन्न देशों की राष्ट्रीय मजदूर -पार्टियों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम करना चाहिये।

छठा अध्याय

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त

'कैपिटल' की रचना

सन् १८४३ से, जब मार्क्स का ध्यान साम्यवाद की तरफ आकर्षित हुआ था, उसको विश्वास हो गया था कि वर्तमान पूँजीवादी समाज का आधार अर्थशास्त्र पर है। तब से अर्थशास्त्र उसके अध्ययन का प्रधान विषय बन गया था। उसने इङ्गलैंड और फ्रांस के अर्थशास्त्रकारों, विशेष कर सिसमण्डी और रिकार्डो के ग्रंथों का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। साथ ही उसने पूँजीवाद के विरोधी ग्रंथो का भी, जो सन्

१८२० और १८४० के बीच में रचे गये थे, अच्छी तरह अध्ययन किया था। इस प्रकार उसे अर्थशास्त्र और पूँजीवाद की आलोचना का बहुत सा मसाला मिल गया। इसी ज्ञान के फल-स्वरूप वह अपने 'कैपिटल' महाग्रंथ की रचना कर सका था।

इस ग्रंथ के प्रथम भाग मे बड़े बड़े कारबारों में लगी हुई पूँजी की उत्पत्ति और प्रवृत्ति, वस्तुओं की उत्पत्ति के क्रम, मालिक और मजदूरों के सम्बन्ध, श्रमजीवियों के रक्त-शोषण, मजदूरी और काम करने के घंटे, तथा आधुनिक यंत्रों का मजदूरों की दशा पर प्रभाव, आदि बातों का विवेचन किया गया है। इस भाग द्वारा हमको यह भी मालूम होता है कि पूँजी की किस तरह वृद्धि होती है। इसमें माल उत्पन्न करनेवाले कष्ट-ग्रसित और विद्रोही-भावापन्न श्रमजीवी दल का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। दूसरे भाग मे बतलाया गया है कि मालिक किस प्रकार अपना माल बाजार में लाता है, उसे बेचता है, बिक्री के द्वारा फिर माल तैयार करता है और इस प्रकार उत्पत्ति के क्रम को बराबर जारी रखता है। तीसरे भाग मे पूँजीपतियों की व्यापार की पद्धति का पूर्ण रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, कि वस्तुओ के बनाने में क्या लागत पड़ती है, किस मूल्य मे उनको बेचा जाता है, कितना हिस्सा लाभ-स्वरूप बचता है, लाभ में से व्याज, भाड़े आदि के लिये कितना अंश

निकल जाता है, आदि आदि।

प्रथम भाग का समझ सकना बहुत कठिन है। ग्रंथकार ने इस भाग को अनुपम बनाने के उद्देश्य से विषय को इतना सूक्ष्म और परिष्कृत बनाया है, और मूल्य तथा अतिरिक्त-मूल्य सम्बन्धी व्याख्याओं से उसे ऐसा भर दिया है कि उसने दर्शनशास्त्र का रूप ग्रहण कर लिया है। इस भाग में लेखक ने अपने विषय का इस रीति से प्रतिपादन किया है जैसे कोई पहलवान अखाड़े में अपनी चतुराई और शक्ति दिखलाता हो। पर इस ग्रंथ का तीसरा भाग ठीक इसके विपरीत है और उससे सिद्ध होता है कि मार्क्स में अर्थशास्त्र के समान जटिल विषय का बिल्कुल स्पष्ट और जोरदार ढङ्ग से विवेचन करने की भी पूर्ण शक्ति थी। यह भाग ठीक उसी ढंग से लिखा गया है जैसा कि मार्क्स ने उसके सम्बन्ध मे निश्चय किया था। इसमें न पाठकों को चक्कर में डालने वाली विद्वत्तापूर्ण कठिन व्याख्यायें हैं, न टिप्पणियों की भरमार है, और न शास्त्रार्थ-सम्बन्धी ग्रंथों के समान विषयान्तर पाया जाता है।

'कैपिटल' को समझने के लिये पहली बात यह ध्यान में रखनी आवश्यक है कि मार्क्स विज्ञान द्वारा आविष्कृत सिद्धान्त को प्राण या आत्मा और उसके व्यवहारिक रूप को शरीर के समान मानता था, जिसको बाह्य दृष्टि से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये, अतिरिक्त-मूल्य

सिद्धान्त है और नफा उसका बाह्य रूप। नफा को सिद्धान्त से पृथक् करके अनुभव द्वारा भी जाना जा सकता है, पर उसका वास्तविक रहस्य नहीं समझा जा सकता। दूसरी बात यह है कि मार्क्स पूँजीवादियो की आर्थिक पद्धति को बाहरी बाधाओं और उपद्रवो से बिल्कुल मुक्त मानता है। उस पर न राज्य किसी प्रकार का आक्रमण करता है न श्रमजीवी दल। श्रमजीवियो की तरफ से 'फैक्टरी कानून' आदि बनाने के लिये जो आन्दोलन किया जाता है और जिसका वर्णन मार्क्स ने 'कैपिटल' में किया है, उससे उत्पादक-शक्ति की वृद्धि और उन्नति ही होती है, और पूँजीपतियों के स्वार्थ में किसी प्रकार का धक्का नहीं लगता।

मूल्य

पूँजीवादी समाज के जीवन और गति का आधार विनिमय पर निर्भर है। आजकल मनुष्य सिक्के द्वारा असंख्यों तरह की वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय (बदला) करता रहता है। निरन्तर खरीदना और बेचना और वस्तुओं तथा श्रम का सदा विनिमय होते रहना—यही पूँजीवादी समाज में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का सार है। अगर इन सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से दर्शाने के

लिये एक नक्शा तैयार किया जाय तो वह आकाश के नक्शे से कम जटिल और दुरूह न होगा, जिसमें असंख्यो नक्षत्रो के वृत्त एक दूसरे को काट रहे हों। तो भी इन प्रत्यक्ष में दिखलाई देने वाली असंख्यों गतियों के नियंत्रण के लिये नियमो और व्यवस्था का होना आवश्यक है। अर्थशास्त्रकार सैकड़ों वर्षों से उन नियमों की खोज करते आये हैं जो विनिमय की इस क्रिया का सम्पादन करते हैं। उनके सिद्धान्तों को मार्क्स पूँजीवादियो के अर्थशास्त्र के नाम से पुकारता है।

इस सम्बन्ध मे मार्क्स का मत है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत जो वस्तु या माल तैयार होकर बाजार में बिकने को आता है उसके दो तरह के मूल्य होते हैं—एक उपयोग-सम्बन्धी मूल्य और दूसरा विनिमय-सम्बन्धी मूल्य। किसी वस्तु के उपयोग-मूल्य का मतलब वस्तु के उस गुण से है जिससे उसके खरीदनेवाले की किसी शारीरिक या मानसिक आवश्यकता की पूर्ति होती हो। जिस चीज का उपयोग-मूल्य नही होता उसका न विनिमय होता है न वह बेची जा सकती है। उपयोग-मूल्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु दूसरी से भिन्न होनी चाहिये। कोई आदमी एक मन गेहूँ का परिवर्तन उसी तरह के एक मन गेहूँ से न करेगा। वह उसका परिवर्तन बीस गज कपड़े से कर सकता है।

अब प्रश्न होता है कि एक चीज का विनिमय दूसरी चीज के साथ किस हिसाब या कायदे से किया जाय? इसी हिसाब या कायदे का नाम विनिमय-मूल्य है, और इसका आधार श्रम के उस परिमाण और कठोरता पर निर्भर है जो किसी वस्तु के बनाने या पैदा करने में आवश्यक होते हैं। बाजार में श्रम के समान परिमाण का परस्पर मे बदला किया जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि श्रम का परिमाण इस दृष्टि से नही नापा जाता कि अमुक व्यक्ति को एक वस्तु के बनाने में कितनी देर लगती है, वरन् समाज में आमतौर से प्रचलित प्रणाली से जितना समय लगता है उसी हिसाब से श्रम का परिमाण नापा जाता है। उदाहरण के लिये, अगर हाथ से कपड़ा बुनने वाले एक जुलाहे को बीस गज का थान बनाने में बीस घण्टे काम करना पड़ता है, जो कि आधुनिक मशीनो द्वारा पॉच घण्टे में बनाया जा सकता है, तो हाथ से कपड़ा बुननेवाले को चौगुना विनिमय-मूल्य नही दिया जा सकता। इस प्रकार मार्क्स के मत से किसी वस्तु के विनिमय-मूल्य का आधार श्रम का वह परिमाण है जो उस वस्तु के तैयार करने मे लगता है।

पर श्रम का यह परिमाण सदैव एक सा नहीं रहता। नये आविष्कारों, माल तैयार करने के ढंग मे उन्नति, और श्रमजीवियों की उत्पादन-शक्ति की वृद्धि आदि कारणो से

किसी वस्तु के बनाने के लिये आवश्यक श्रम का परिमाण घट सकता है। उस अवस्था में यदि दूसरी बातें (जैसे उस वस्तु की माँग, विनिमय का साधन—सिक्का आदि) जैसी की तैसी ही बनी रहें तो उस वस्तु का विनिमय-मूल्य भी कम हो जायगा।

इससे सिद्ध होता है कि विनिमय-मूल्य का आधार श्रम ही है। विनिमय-मूल्य द्वारा ही किसी समाज या देश की सम्पत्ति का निर्णय किया जा सकता है। वस्तुओं के तैयार करने मे जितना श्रम दरकार होता है, अगर वे वस्तुएँ उससे कम श्रम मे ही तैयार होने लगें, तो सम्भव है कि किसी देश की सम्पत्ति आकार में बढ़ने पर भी मूल्य की दृष्टि से घट जाय।

उद्योग-धन्धों की दृष्टि से जो देश जितना अधिक अग्रसर होता है, और उसकी सभ्यता का दर्जा जितना ऊँचा होता है उतनी ही उसकी सम्पत्ति भी अधिक होती है और सम्पत्ति की उत्पत्ति पर श्रम भी कम खर्च होता है। वर्तमान व्यवहारिक राजनीति में यह बात अधिक मजदूरी और कम घण्टे के काम के रूप में प्रकट होती है।

यह कहा जा चुका है कि किसी वस्तु के विनिमय-मूल्य का आधार उसका उपयोग-मूल्य होता है। पर उपयोग-मूल्य का महत्व इतना ही नहीं है। यदि कोई चीज इतनी

अधिक वन जाय जिसकी लोगों को आवश्यकता न हो; तो शेष वस्तु का कुछ भी मूल्य नहीं रहता, यद्यपि उसके तैयार करने मे श्रम किया गया है। इसलिये विनिमय-मूल्य या समाज द्वारा किये गये श्रम का पूरा फल तभी प्राप्त हो सकता है जब कि वस्तुओं की पैदावार और उनकी माँग मे समानता वनी रहे। इसके लिये सङ्गठन और समाज को मार्ग दिखलाने की आवश्यकता होती है।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि मार्क्स ने मूल्य-सम्वन्धी जो सिद्धान्त वतलाये है वे यद्यपि प्राचीन अर्थ-शास्त्रकारों के सिद्धान्तो से सम्वन्ध रखते हैं, तो भी उनमें वहुत कुछ अन्तर है। मार्क्स की कुछ व्याख्याएँ नई है और उनमे वहुत कुछ उन्नति की गई है। पर इन दोनों में मुख्य भेद यह है कि प्राचीन अर्थशास्त्रकारो के सिद्धान्त से पूँजीपति; जो कि उत्पत्ति का नियंत्रण करता है, अपनी पूँजी द्वारा मजदूरो को औजार और कच्चा माल पहुँचाता है, तैयार माल को वाजार में विकवाता है, और माल तैयार होने के इस क्रम को जारी रखता है, वही मूल्य (सम्पत्ति) का वास्तविक उत्पादक माना गया है, और श्रमजीवियो को उत्पत्ति का केवल एक साधन गिना गया है। इसके विपरीत मार्क्स के सिद्धान्त से—श्रमजीवी ही, जो कच्चे माल से वस्तुएँ तैयार करते है या कच्चे माल को उत्पन्न करके वस्तुएँ वनाने के स्थान तक पहुँचाते हैं, मूल्य

के एकमात्र उत्पादक माने गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो मूल्य अथवा सम्पत्ति के उत्पन्न करनेवाले श्रमजीवी ही हैं जो कि माल तैयार करते है और उसको विभिन्न स्थानो तक पहुँचाते हैं।

मजदूरी और श्रम

प्रत्यक्ष में जान पड़ता है कि मजदूर को उसके श्रम के बदले मे पूरी मजदूरी मिलती है। पर वास्तव मे उसको उतनी ही मजदूरी मिलती है जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके और उसकी मजदूरी करने की शक्ति बनी रहे। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार घोड़े को उतना दाना-घास दिया जाता है जिससे वह काम करने लायक बना रहे।

इस प्रकार मजदूरो को जो मजदूरी दी जाती है वह जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओ को पूरी करने के लिये होती है। पर जब कभी वस्तुओं की दर घट जाती है, तो मजदूरी का परिमाण ज्यो का त्यों बना रहने पर भी मजदूर जीवन-निर्वाह की अधिक सामग्री पा सकते हैं और जब वस्तुओ की दर बढ़ जाती है तो उनको कम सामग्री मिलती है। इस दृष्टि से मजदूरों को महीने या सप्ताह के अन्त में मिलनेवाले रुपयों की संख्या ज्यों की त्यो बनी रहने

पर भी वास्तव में उनकी मजदूरी घटती बढ़ती रहती है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रकार समझते हैं कि मजदूरी का यह नियम ऐसा स्पष्ट और न्याययुक्त है कि इसमें किसी तरह के झगड़े की गुञ्जायश नहीं। पर मार्क्स इसको सच मानता हुआ भी इससे सन्तुष्ट नहीं है और वह इस विषय में आगे बढ़ कर खोज करता है। उसके सिद्धान्त का सार इस प्रकार है।

कोई भी पूंजीपति जब किसी मजदूर को नौकर रखता है तो इस बात को देख लेता है कि उसको जितनी मजदूरी दी जायगी वह उससे अधिक मूल्य का माल तैयार करेगा। अगर मजदूर उतनी ही कीमत का माल तैयार करे जितनी कि वह मजदूरी पाता है तो मालिक कभी उसे नौकर रखना स्वीकार न करेगा। इस प्रकार यदि अपने जीवन-निर्वाह के लायक सामग्री पाने के लिये मजदूर को हर रोज पाँच घण्टे काम करना काफी हो तो उसे पाँच घण्टे हर रोज पूँजीपति के लिये भी काम करना आवश्यक होता है। मार्क्स अपने लिये किये हुये काम को 'आवश्यक-श्रम' और पूँजीपति के लिये किये हुये काम को 'अतिरिक्त-श्रम' के नाम से पुकारता है। मजदूर को इसी शर्त पर नौकरी मिल सकती है कि वह अपने लिये काम करने के साथ ही पूँजीपति के लिये भी बिना कुछ मजदूरी लिये काम कर देगा।

पूँजीवादी अर्थशास्त्रकार श्रम और मजदूरी की इस विवेचना को सच बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इससे पूँजीपति का लाभ अवश्य है पर मजदूर का कोई नुकसान नहीं। मार्क्स इससे सहमत नहीं होता। वह इस अतिरिक्त-श्रम को 'विना मूल्य के श्रम' के नाम से पुकारता है। उसकी सम्मति में इस तरीके से पूँजीपति वदले में विना कुछ दिये ही मजदूर की कमाई को हजम करता रहता है।

श्रम के सिद्धान्त पर विचार करने से हम अतिरिक्त-मूल्य के प्रश्न पर जा पहुंचते हैं, जो कि मार्क्स के अर्थ-शास्त्र का प्रधान स्तम्भ है।

अतिरिक्त-मूल्य

अतिरिक्त-मूल्य के सिद्धान्त का जन्म इङ्गलैण्ड मे हुआ था। इङ्गलैण्ड मे ही सब से पहले मशीनों और कारखानों का प्रचार हुआ और उसके फल से उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में वहाँ पूँजीवाद के पक्ष में और विरोध में आन्दोलन होने लगा तथा पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। इन पुस्तकों का विशेष प्रचार सन् १८२० के पश्चात् से होने लगा। इसी समय के पूँजीवाद के विरोधी लेखकों ने अतिरिक्त-मूल्य का सबसे पहले उल्लेख किया था।

पर वे लोग इतना ही कहते थे कि अतिरिक्त-मूल्य अन्याय-पूर्ण है और समस्त दोषों का कारण है। उनको इसके वैज्ञानिक स्वरूप और आधार का कुछ भी ज्ञान न था। इस त्रुटि को मार्क्स ने पूरा किया।

मार्क्स ने अतिरिक्त-मूल्य के सिद्धान्त की इतनी अधिक व्याख्या की है और उस पर इतना ज्यादा जोर दिया है कि आजकल यह साम्यवादी अर्थशास्त्र का सर्वप्रधान अङ्ग समझा जाता है। इसके द्वारा मार्क्स ने पूँजीवाद रूपी मशीन का भीतरी भेद और काम करने का ढङ्ग खोलकर दिखला दिया है। इसके द्वारा उसने यह भी वतला दिया है कि पूँजीवाद की प्रवृत्ति किस तरफ है और उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा। उसके मत से 'पूँजी' सम्पत्ति का वह अंश है, जिसकी व्यापार-व्यवसाय द्वारा वृद्धि की जाती है। इस पर प्रश्न होता है कि यह वृद्धि कैसे होती है? इसका उत्तर इस प्रकार है:—

जितनी पूँजी किसी कारबार में लगाई जाती है वह दो भागों में बँटी होती है। एक भाग मकान, मशीन, औजार, कच्चा माल आदि में लगाया जाता है, और दूसरा काम करनेवालों के वेतन में। पहले भाग को मार्क्स अचल-पूँजी के नाम से पुकारता है और दूसरे को चल-पूँजी के नाम से। पहले भाग को अचल-पूँजी कहने का कारण यह है कि इसके द्वारा वस्तुओं के मूल्य में जितनी

वृद्धि होती है उतना ही खर्च भी हो जाता है। इस कारण मार्क्स इसको 'निष्क्रिय-भाग' भी कहता है। कर्मचारियो के वेतन में जो पूँजी लगाई जाती है उसको चल-पूँजी कहने का कारण यह है कि उसमें परिवर्तन होता रहता है और वह लागत से अधिक मूल्य उत्पन्न करती है। इस कारण इसे मार्क्स 'क्रियाशील पूँजी' कहता है।

मार्क्स के मत से केवल चल-पूँजी ही 'अतिरिक्त-मूल्य' को, जिसे साधारण बोलचाल में नफा कहते हैं, उत्पन्न करती है। जैसा हम 'श्रम और मजदूरी' के विवेचन में दिखला चुके हैं, मजदूर को अपने जीवन-निर्वाह के लायक काम करने के सिवाय मालिक के लिये जो अतिरिक्त-श्रम करना पड़ता है वही अतिरिक्त-मूल्य के स्वरूप में प्रकट होता है। जिस मजदूर को एक रुपया रोज मजदूरी मिलती है, और जो एक रुपये का काम पाँच घण्टे में कर देता है, कारखाने का मालिक उसी मजदूरी मे उससे दस घण्टे काम कराता है। यह पाँच घण्टे का अतिरिक्त-श्रम वस्तु के मूल्य में मिल जाता है, और पूँजीपति ने उस वस्तु में जितना मूलधन लगाया है उसको बढ़ा देता है।

अतिरिक्त-मूल्य का समाज पर प्रभाव

यह कहा जा चुका है कि पूँजी, सम्पत्ति के उस भाग को कहते हैं जो कि सम्पत्ति की वृद्धि और अतिरिक्त-मूल्य (नफा) हासिल करने के लिये किसी कारबार में लगाया जाता है। यही पूँजीवादी दल का मुख्य उद्देश्य होता है। नफे का लालच ही पूँजीपतियों को आगे बढ़ाने और उनसे काम करानेवाली प्रधान प्रेरक शक्ति है। इसी अभिलाषा के वशीभूत होकर ये लोग बिना सोचे-विचारे दिन पर दिन पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति की वृद्धि करते जाते हैं और उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा करते रहते हैं।

पूँजीपति इन बातों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार नही करते। वे नहीं जानते कि उनको जो नफा मिलता है वह पूँजी के किसी भाग द्वारा मिलता है या मानवीय उत्पादक-शक्तियो द्वारा। पर एक बात वे अवश्य जानते हैं कि बिना श्रमजीवियों के उनकी तमाम पूँजी मुर्दे के समान है। उनकी समस्त मशीनें और कच्चा माल बेकार है जब तक कि जीते-जागते श्रमजीवी उनका उपयोग करके वस्तुएं तैयार न करदें। इस लिये उनका सबसे अधिक ध्यान मजदूरों से ठीक ढंग से काम लेने पर रहता है। पुराने जमाने में जब कि मशीनों की उन्नति बहुत कम हुई थी और ज्यादातर काम हाथ से किया जाता था, तब

श्रमजीवियों का महत्व सब से अधिक समझा जाता था। उस समय श्रमजीवी पूरी तौर से तनखाह पानेवाले गुलाम नही बन गये थे। वरन् वे कारीगर या दस्तकार थे, जिन की स्वतन्त्रता अधिकांश में जाती रही थी। पूँजीपति उनको नौकर रखकर उनके श्रम और योग्यता से लाभ उठाता था। उसका ध्यान सदा इस बात पर रहता था कि उनसे अधिक से अधिक समय काम कराके ज्यादा से ज्यादा माल तैयार कराया जाय, जिससे भरपूर नफा मिल सके।

जैसे-जैसे समय बीतता गया पूँजीपतियों का मजदूरों से काम कराने का अनुभव बढ़ता गया। उन्होंने देखा कि अगर काम को अनेक हिस्सों में बाँट कर प्रत्येक हिस्से को मजदूरों के अलग-अलग दल से कराया जाय तो काम ज्यादा होगा। इस तरह काम कराने से शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि अगर कोई मजदूर पूरी चीज बनाने के बजाय सिर्फ उसका एक भाग बनावे, तो वह उस काम को जल्दी सीख जाता है और ज्यादा सफाई और तेजी से कर सकता है। इस प्रकार 'श्रम-विभाग' (Division of Labour) की प्रणाली आरंभ हुई जिसके फल से श्रमजीवी, कारीगर के बजाय एक जीवित यंत्र बन गये। पर इस तरीके से माल बहुत अधिक बनने लगा। इस श्रम-विभाग के कारण अधिक बढ़िया औजारों की आवश्यकता पड़ी और यंत्र-

विद्या विशारदो तथा इञ्जिनियरों का ध्यान नवीन मशीनों के बनाने की तरफ जाने लगा। इसके साथही जब माल ज्यादा तैयार होने लगा तो उसको बेचने के लिये दूर-दूर भेजने की जरूरत पड़ी, और इसके फल से माल ढोने के साधनों, जैसे सड़कों, रेलों, मोटरों आदि की बृद्धि होने लगी। व्यवसाय-वाणिज्य की वृद्धि और तरह-तरह की नई चीजों की माँग होने, और माल को कम खर्च मे बनाने की चेष्टा से रसायन-शास्त्र, धातु-विज्ञान और विज्ञान की अन्य शाखाओ की भी उन्नति होने लगी।

इस बीच मे कारखानों के भीतर भी मामला ठण्डा न था। काम करने के घंटों के बढ़ने और अधिक तेजी से काम करने के कारण शक्ति अधिक व्यय होने से श्रमजीवियों में असंतोष फैलने लगा और वे सङ्गठित होकर अपनी दशा सुधारने की चेष्टा करने लगे। श्रमजीवियों की इस कलह और साथ ही विज्ञान, यंत्र-कला आदि की उन्नति के फल से नई-नई मशीनों, भाफ के इञ्जिन, बिजली आदि के आविष्कार होने लगे और बड़े-बड़े कारखानों की नींव पड़ी।

इस समय पूँजीपतियों के सामने दो बड़े सवाल मौजूद थे। एक तो यह कि जहाँ तक सम्भव हो श्रमजीवियों के दबाव को कम करना और दूसरे अपने लाभ को बढ़ाना। इस उद्देश्य की सिद्धि बहुत कुछ नवीन मशीनों के

आविष्कारों से हुई। जिन श्रमजीवियों को अब भी अपनी चतुराई, कारीगरी का अभिमान था, या जो अपने ग्रामीण स्वभाव के कारण सहज मे कारखाने के नियमों में बँधना नहीं चाहते थे और समय-समय पर पूँजीपतियों से लड़ते झगड़ते रहते थे, उनमे से कुछ को हटाकर उनकी जगह औरतों और बच्चो को भरती किया गया और कुछ को डरा-धमका कर राजी कर लिया गया। नई मशीनो पर काम करना इतना सहज था कि मामूली अक्ल का आदमी या औरत भी उसे सहज मे कर सकती थी। फिर भी श्रमजीवियो से काम कराने का समय बराबर बढ़ता रहा और औरतो तथा बच्चों का भयङ्कर रूप से खून चूसा जाने लगा।

इस प्रकार देखते-देखते समाज में एक ऐसा व्यापक परिवर्तन हो गया जैसा पहले कभी देखने में न आया था। समाज की कितनी ही श्रेणियाँ, जो दस्तकारी और कारीगरी द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रोजी कमाती थी, एक दम नष्ट हो गईं और उनकी गिनती मजदूरों में होने लगी। खेती की दशा भी बदलने लगी और बड़े-बड़े जमींदारो ने मामूली जमीन को भी काम मे लाना शुरू कर दिया, और स्वतंत्र किसान मजदूर बनने लगे। धीरे-धीरे ग्रामों की जन-संख्या घटने लगी और शहरो की उन्नति होने लगी। इस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन के

फल से समाज स्पष्टतः दो हिस्सों मे बँट गई—एक पूँजीपति और दूसरे श्रमजीवी।

कुछ समय पश्चात् श्रमजीवी और समाज की अन्य श्रेणियाँ पूँजीपतियों का विरोध करने लगी कि उनकी मजदूरों का खून चूसने की नीति लोगों के स्वास्थ्य का नाश कर रही है, इस लिये श्रमजीवियों से नियमित समय से अधिक काम नहीं कराना चाहिये। बहुत कुछ आन्दोलन के पश्चात् सरकार ने काम कराने का समय घटा दिया और कानून बना दिया कि मजदूरों से उससे अधिक काम न लिया जाय। इस कानून के कारण पूँजीपतियों का नफा घटने लगा, पर शीघ्र ही मशीनों की आश्चर्यजनक उन्नति होने लगी, और मजदूर लाचार हो कर तेजी से काम करने लगे, जिससे उनके शरीर पर बहुत जोर पड़ने लगा। अब उनको एक घण्टे में उतना काम करना पड़ता था जितना पहले डेढ़ घण्टे में करते थे। इस प्रकार मजदूरों के काम का समय घटाने की माँग के कारण मशीनो की दिन पर दिन उन्नति होने लगी, पूँजीपति बड़े-बड़े कारखाने खोलने लगे, और बहुमूल्य मशीनों से काम लेने लगे।

नवीन आविष्कारों के कारण कुछ समय बाद उद्योग-धन्धों की दशा मे बड़ा अन्तर पड़ गया। पहले जमाने में मशीनों और कच्चे माल में कारखाने वाले बहुत कम

लागत लगाते थे और पूँजी का अधिकांश भाग मजदूरों को ही मिलता था। अब नई मशीनों के जरिये एक आदमी पहले से दुगुना-चौगुना माल बनाने लगा और इसलिये पूँजी का ज्यादातर हिस्सा मशीनों और कच्चे माल में लगने लगा और मजदूरों की आमदनी कम हो गई। इसका दूसरा नतीजा यह भी हुआ कि छोटी पूँजीवालों को उद्योग-धंधों के क्षेत्र मे गुञ्जायश न रही। वे लोग या तो बड़ी पूँजीवालों के पेट मे समाने लगे, या आपस मे मिलकर संयुक्त-कम्पनियाँ (Joint Stock Companies) बनाने लगे। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों पर थोड़े से लोगों का अधिकार हो गया और वे एक स्थान पर इकट्ठा होने लगे।

उद्योग-धन्धो के इस नवीन परिवर्तन का प्रभाव श्रम-जीवियों पर भी कम नहीं पड़ा। पूँजीपति उनका खून पहिले की अपेक्षा भी अधिक चूसने लगे और इतने पर भी अनेकों बेकार रहकर भूखों मरने लगे, क्योंकि नई मशीनों द्वारा थोड़े से मजदूर ही बहुत सा काम कर डालते थे। इस प्रकार पूँजीपतियों के लिये श्रमजीवियों की एक रिजर्व-सेना तैयार हो गई। जब कि व्यापार जोरों से चलने लगता है तो यह रिजर्व-सेना काम में लगा दी जाती है, और जब मन्दा पड़ जाता है तो उसे फिर भूखें मरने या दूसरों की खैरात पर जीने को छोड़ दिया जाता है। व्यापार की तेजी के समय यह रिजर्व-सेना स्थायी रूप से

काम करनेवाले श्रमजीवियों की वेतन-वृद्धि की माँग को दबाने में सहायक होती है और व्यापार की मन्दी के समय इसी के बल पर श्रमजीवियों की मजदूरी घटाई जाती है।

इस प्रकार पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली के फलस्वरूप उत्पादक शक्तियों का विकास होता है, विज्ञान की वृद्धि होती है, भौतिक सभ्यता का प्रसार होता है, समाज दो परस्पर विरोधी हिस्सों में बँट जाता है, आर्थिक अधिकार थोड़े से लोगों के हाथ में चले जाते हैं, और बहुसंख्यक लोगों को गुलामी और दुर्गति भोगनी पड़ती है।

पूँजीवाद का अन्त

जैसे-जैसे पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली की वृद्धि होती है और वह परिपक्व होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके परस्पर-विरोधी लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वे लक्षण इस बात को साफ तौर पर बतलाते हैं कि पूँजीवाद की उपयोगिता समाप्त हो चली और अब उसके गर्भ में से एक नवीन जीवन-मार्ग—एक उन्नत सामाजिक संगठन का जन्म होनेवाला है। इन परस्पर-विरोधी लक्षणों में से मुख्य ये हैं:—

पूँजीवाद का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक नफा हासिल करना होता है। पर जब पूँजीवाद की बहुत अधिक

उन्नति हो जाती है और मशीनें तथा कारखाने के मकानों आदि मे पूँजी का बहुत अधिक हिस्सा खर्च होने लगता है, तो उनके इस उद्देश्य में बाधा पड़ने लगती है, और उनका नफा घट जाता है। यद्यपि वे माल बहुत अधिक परिमाण मे और कम खर्च में तैयार करा सकते हैं, पर आदमियों का काम मशीनों से निकालने के कारण जनता निर्धन हो जाती है और बहुत थोड़ा माल खरीद सकती है। एक तरफ पूँजीपति माल की पैदावार को बढ़ाते हैं दूसरी तरफ उसकी खपत कम होने लगती है और इसके फलस्वरूप व्यापार-संकट उपस्थित हो जाता है। तब पूँजी बर्बाद होने लगती है, पैदावार को जबर्दस्ती रोका जाता है, उत्पादक-शक्तियों की गति को धीमा किया जाता है, और असंख्यों मजदूरों को हड़ताल या 'लाक-आउट' के नाम से बेकार बैठे रहना पड़ता है। इसके सिवाय उद्योग-धन्धों के बड़े स्वरूप को स्थिर रखने के लिये कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ जाती है, जो विशेषतः गर्म और शीतोष्ण देशों से ही पूरी हो सकती है। उन देशों पर अधिकार रखने के लिये पूँजीवादी देशों में युद्ध होने लगता है जिसमें धन-जन की असीम हानि होती है। इस प्रकार पूँजीवाद एक तरफ पूँजी या सम्पत्ति की वृद्धि की चेष्टा करता है, और दूसरी तरफ स्वयम् जानबूझकर उसे नष्ट करता है। यह उसका एक परस्पर-विरोधी लक्षण है।

अब आगे बढ़िये । पूँजीपति आरम्भ से ही इस बात की चेष्टा करते रहते हैं कि उनके मजदूर सीधेसाधे और उनकी प्रत्येक आज्ञा को सिर झुकाकर मान लेनेवाले हों। पर उद्योग-धन्धों के बड़े-बड़े केन्द्र कायम करके वे स्वयम् उनको संगठित होने का मौका देते हैं और इस प्रकार उनकी ताकत को बढ़ाते हैं। कारखाने मजदूर-संगठन के केन्द्र बन जाते हैं, और वे उनकी व्यक्तिगत शक्ति को सामूहिक शक्ति के रूप में बदल देते हैं। इसके फल से मजदूरों के पारस्परिक विरोध का अन्त हो जाता है और वे अपने को एक ही दल का सदस्य समझने लगते हैं, जिन सबका स्वार्थ या हित समान है। इस बात की विवेचना मार्क्स ने 'कैपिटल' मे बड़े प्रभावशाली शब्दों में की है, जिसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

"जब कि इस कायापलट करनेवाली प्रक्रिया द्वारा पुरानी समाज सिर से पैर तक खंड-खंड होने लगती है, और साधारण मजदूर संगठित श्रमजीवियों का रूप धारण कर लेते हैं, तो श्रम के सामाजिक रूप में भी नवीन परिवर्तन होने लगता है। इस दर्जे पर पहुँच जाने पर पूँजीपति श्रमजीवियों को लूट नहीं सकते, वरन् स्वयं उनकी पूँजी की ही हानि होने लगती है। इसका एकमात्र कारण पूँजीवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है। एक पूँजीपति कितने ही पूँजीपतियों को मार खाता है

और इसके फल से पैदावार के साधनों पर दिन पर दिन थोड़े से लोगों का अधिकार होता जाता है। इसके साथ ही श्रमजीवियों मे सहयोग की वृद्धि होती जाती है और उनकी शक्ति बढ़ती जाती है। होते-होते संसार भर का बाजार इने-गिने लोगों के हाथो मे आ जाता है और एक प्रकार से वे ही दुनिया के मालिक बन जाते हैं। दूसरी तरफ साधारण लोग दिन पर दिन दरिद्र होते जाते हैं और गुलामी मे फँसते चले जाते हैं। पर साथ ही श्रम-जीवी दल मे विद्रोह का भाव भी जोर पकड़ता जाता है। उनकी संख्या दिन पर दिन अधिक होती जाती हैं, उनमे आज्ञा-पालन का भाव बढ़ता जाता है, और उनका संग-ठन अधिकाधिक मजबूत बनता जाता है। उद्योग-धन्धो पर थोड़े से लोगो का अधिकार रहने से उन्नति की गति रुक जाती है। अन्त मे उत्पत्ति के साधनों का एक केन्द्र पर इकट्ठा होना और श्रम के सामाजिक रूप की वृद्धि एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचते हैं, जहाँ कि उनका पूँजीवादी प्रणाली के साथ निर्वाह हो सकना असम्भव हो जाता है। उसी क्षण इस पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाता है, निजी जायदाद की प्रथा विलीन हो जाती है, और दुनिया का स्वत्व हरण करनेवालो का स्वत्व सदा के लिये नष्ट हो जाता है।"

उपसंहार

मार्क्स के सिद्धान्तो की आजकल सभ्य संसार में काफी चर्चा है, और उनके सम्बन्ध मे मतभेद भी बहुत फैला हुआ है। साम्यवादी और गरीबों के हितचिन्तक मार्क्स को मनुष्य-जाति का एक महान् मार्ग-प्रदर्शक समझते हैं, और पूँजीवादी या धन-सत्ता के समर्थक उसको 'साम्यवादियों का पागल पैगम्बर' के नाम से याद करते हैं। वास्तव मे मार्क्स के महत्व को समझने के लिये उसकी प्रणाली के अनुसार विचार करना आवश्यक है। हमको उसके सम्बन्ध में उसी तरह निर्णय करना चाहिये जैसे हम संसार के अन्य किसी महापुरुष के सम्बन्ध में करते हैं। मार्क्स ने जो कुछ लिखा है उस पर उस समय की परिस्थिति और घटनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है, और उसके सिद्धान्तों की जाँच करते समय इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है।

मार्क्स के विचारों पर दो घटनाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था—एक फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और दूसरी इङ्गलैंड की व्यवसायिक-क्रान्ति। मार्क्स के मित्र आरनोल्ड रज ने एक जगह लिखा है कि सन् १८४३ और १८४४ के बीच मे उसने फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् के इतिहास के लिये बहुत सा मसाला इकट्ठा किया था और

अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया था। इसके सिवाय सन् १८४४ से १८५२ तक उसने जो काम किया उस पर ध्यान देने से भी हमको स्पष्ट जान पड़ता है कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का निस्सन्देह उसके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। पर इससे भी गहरा प्रभाव उसके मन पर इङ्गलैण्ड के व्यवसायिक-परिवर्तन के इतिहास के अध्ययन से हुआ था। ये दोनो घटनायें वर्ग-कलह को प्रकट करनेवाली हैं और इनके फल से मध्यम-वर्ग को रईस और सरदारों के दल पर प्रधानता प्राप्त हुई थी। पर साथ ही इनके कारण एक तीसरे वर्ग—श्रमजीवी दल का उदय होने लगा था, जो विजयी मध्यम-वर्ग का सामना करने को तैयार हो रहा था।

मार्क्स ने इन घटनाओ से जो नतीजा निकाला उससे इतिहास की समस्याओं को सुलझाने का एक नया सूत्र उसके हाथ लग गया। उसको इस कार्य में विशेष सहायता हेगल, रिकार्डो और पूँजीवाद के विरोधी अङ्गरेज लेखकों के ग्रंथों से मिली थी। जीवन के अन्त तक उसकी यह धारणा रही कि यद्यपि हेगल की तर्क-प्रणाली आध्यात्मिक है, पर यदि उसका भौतिक दृष्टि से उपयोग किया जाय तो उससे समाज-संचालन के सच्चे नियम ज्ञात हो सकते हैं।

हेगल की तर्क-प्रणाली का फ्रांस की राज्यक्रान्ति और

इङ्गलैंड की व्यवसायिक क्रान्ति पर प्रयोग करके मार्क्स ने निम्नलिखित फल निकाला था। समाज एक भावरूप (Positive) वस्तु है। वह जमींदार-वर्ग और व्यवसायी-वर्ग, इन दो भागों में बँटी हुई है। इनमें एक तीसरा दल श्रमजीवी-वर्ग भी मिल गया है। इन विरोधी तत्वों के फल से वर्तमान समाज का अन्त होकर एक नई श्रेष्ठ समाज अर्थात् साम्यवादी समाज की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार मार्क्स ने हेगल से तर्क और विश्लेषण की प्रणाली प्राप्त की थी, उसी प्रकार रिकार्डो और उसके विरोधी अंगरेज लेखकों के ग्रंथों से उसने अपने आर्थिक सिद्धान्तों को ग्रहण किया था। रिकार्डो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ का लेखक था और उसके ग्रंथ में व्यवसायी-वर्ग और जमींदार-वर्ग के पारस्परिक कलह की विवेचना की गई थी, जो हेगल की तर्क-प्रणाली के अनुसार थी। रिकार्डो के सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है:—

"समाज में गति उत्पन्न करनेवाली मुख्य शक्ति पूँजी है और यही सभ्यता की जननी है। पर पूँजी के परिश्रम का फल पूँजीपति-वर्ग को न मिलकर जमींदार-वर्ग को मिलता है। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जितनी भी वस्तुएं बनाई जाती हैं उनके मूल्य का आधार श्रम पर रहता है, जिसके द्वारा वे तैयार की जाती

हैं। वस्तु के मूल्य के दो भाग होते हैं, एक मजदूरी और दूसरा नफा। मजदूरी और नफा सदा एक दूसरे के विरुद्ध रहते हैं। अगर मजदूरी बढ़ती है तो नफा घट जाता है, और नफा बढ़ता है तो मजदूरी घट जाती है। अब देखना चाहिये कि मजदूरी क्या चीज है? मजदूरी वह है जिससे जीवन-निर्वाह के लिये एक निश्चित परिमाण में सामग्री प्राप्त हो सके, जो मजदूर को काम करने लायक बनाये रखे। जब कि जीवन-निर्वाह की सामग्री का दाम बढ़ जाता है तो मजदूरी भी बढ़ जाती है और इसका कारण भी स्पष्ट है। पूँजी के द्वारा सभ्यता की जो वृद्धि हो रही है उससे कारबार और जन-संख्या की वृद्धि होती है, और इससे जीवननिर्वाह की सामग्री की माँग बढ़ जाती है। इसके लिये खेती को बढ़ाना आवश्यक है। पर खेती की जमीन नपी-तुली है और हर एक जमीन में एक बराबर पैदावार भी नहीं हो सकती। इसलिये खेती को बढ़ाने के लिये घटिया दर्जे की जमीन को काम में लाया जाता है, जिसमें परिश्रम अधिक होता है और उत्पत्ति कम। इससे जीवन-निर्वाह की सामग्री का मूल्य बढ़ जाता है और जमीन के लगान में भी वृद्धि होने लगती है। ऐसी दशा में मजदूर अधिक मजदूरी माँगने लगते हैं, और फ़लस्वरूप व्यवसायियों का नफा घट जाता है। इसके सिवाय एक और बात ध्यान देने योग्य है। जब कि खेती

से उत्पन्न चीजों का दाम बढ़ता जाता है, तब कारीगरी से उत्पन्न होनेवाली चीजों का दाम घटता रहता है, क्योंकि नई मशीनों के आविष्कार और मजदूरों के अधिक उत्तम प्रबन्ध के कारण चीजों के बनाने मे लागत कम बैठती है। इस स्थिति या दशा का नतीजा यह होता है कि पूँजी पर नफा घटता है, पूँजी कम होती जाती है, और मजदूरी बढ़ती है। पर मजदूरी बढ़ने से मजदूरों का कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि भोजन-सामग्री का मूल्य भी दिन पर दिन अधिक होता जाता है। फल यह होता है कि तमाम नफा जमींदारों या जमीन और मकान आदि के मालिकों के हिस्से में जाता है जो कि समाज की उन्नति के लिये कुछ भी नहीं करते।"

इस प्रकार हमको रिकार्डो के सिद्धान्तों में नफा, मजदूरी और लगान; अथवा पूँजीपति, श्रमजीवी और जमींदारों के विरोध का आभास मिलता है। पर उस समय पूँजीपति और श्रमजीवियों का विरोध आरम्भिक दशा में था और रिकार्डो ने उसकी बहुत कम विवेचना की है। साथ ही उसने लगान और जमींदार-वर्ग के लाभ के सम्बन्ध में जो बातें लिखी हैं उनमे भी इन सौ वर्षों के भीतर बड़ा परिवर्तन हो गया है और अब संसार के अधिकांश भाग में भू-स्वामित्व की अपेक्षा पूँजी की ही प्रधानता हो गई है।

सन् १८१७ मे रिकार्डो का मुख्य ग्रंथ 'प्रिन्सिपल' प्रकाशित हुआ और उसी वर्ष से इंगलैंड मे साम्यवादी आन्दोलन की नींव पड़ी। उन्ही दिनों लन्दन की एक सार्वजनिक सभा में राबर्ट ओवेन ने, जो इंगलैण्ड में साम्यवाद का जन्मदाता माना जाता है, अपने को साम्यवादी के नाम से घोषित किया। तीन वर्ष बाद रिकार्डो के आर्थिक सिद्धान्तो के खंडन मे एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें बतलाया गया था कि "यद्यपि रिकार्डो श्रम को मूल्य या सम्पत्ति का मुख्य साधन मानता है, पर तो भी प्रधानता पूँजी को देता है और श्रम को केवल उसका सहायक समझता है। पर वास्तव मे बात बिल्कुल उलटी है। समस्त सम्पत्ति श्रम द्वारा उत्पन्न होती है और पूँजीपति उसको हजम कर जाते हैं।" इसके पश्चात् दो तीन वर्षों के भीतर रेवनस्टोन, हागस्किन आदि कितने ही साम्यवादी लेखको ने पूँजीवादियों के आर्थिक सिद्धान्तो के खण्डन में पुस्तकें और ट्रैक्ट प्रकाशित कराये, जिनमे बतलाया गया था कि पूँजी द्वारा कोई सामग्री उत्पन्न नहीं होती और प्रधान वस्तु श्रम ही है। इन पुस्तको में वर्ग-कलह के अस्तित्व पर भी जोर दिया गया था।

मार्क्स के ऊपर इस सब खण्डन-मण्डन का बहुत प्रभाव पड़ा था और उसने इन सब सिद्धान्तो का वर्णन 'कैपिटल' के दूसरे और तीसरे भाग मे किया है। पर वह इतने से ही

सन्तुष्ट नहीं हो गया। उसने रिकार्डो और उसके विरोधी लेखकों के मतों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है और उनमें अनेक नई बातें जोड़ कर उनको सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है। उसने सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में नफा या व्यापार मे होने वाले लाभ के योग अथवा संग्रह का नाम ही पूँजी है, जिसके असली मालिक श्रमजीवी हैं, और जिस पर पूँजी-पति शक्ति अथवा युक्ति द्वारा अधिकार कर लेते हैं।

रिकार्डो के सिद्धान्तों से इङ्गलैंड के साम्यवादियों ने जो निष्कर्ष निकाला था वह राजनीतिक दृष्टि से वहाँ के श्रमजीवियों की जागृति और पूँजीवाद के विरुद्ध संग्राम आरम्भ करने का प्रथम चिन्ह था। जिस प्रकार रिकार्डो का नफा और लगान सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट रूप में जमींदारों के विरुद्ध पूँजीपतियों की युद्ध-घोषणा थी, उसी प्रकार साम्यवादियों का मूल्य और अतिरिक्त-मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त पूँजीपतियों के विरुद्ध श्रमजीवियों की युद्ध-घोषणा के सदृश था। पर इङ्गलैंड के श्रमजीवियों के पास ऐसा कोई दार्शनिक न था जो उनके विचारों की, तर्क और विज्ञान के अनुकूल, व्याख्या कर सके। इस कमी को मार्क्स ने पूरा किया और उसने श्रमजीवी आन्दोलन को वैज्ञानिक नींव पर स्थापित करके अमर बना दिया।

मार्क्स ने मूल्य और अतिरिक्त-मूल्य के सिद्धान्त का जो विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है वह अर्थशास्त्र

से विशेष सम्बन्ध रखता है, पर राजनीतिक दृष्टि से भी उसका महत्व कम नही है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त के आधार पर श्रमजीवी-दल को पूँजीवादियो के विरुद्ध खड़ा कर दिया और उनको एक ऐसा रास्ता दिखला दिया जिससे उनको अपनी विजय में पूरा विश्वास हो गया। इस प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तो के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं होती कि वे पूर्णतया सत्य हों; उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही मानी जाती है कि वे संग्राम के लिये कमर कसे हुये जन-समूह के मनोभावों के अनुसार हो और उनको आगे बढ़ाने में सहायक हो।

मार्क्स ने जिस समय अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे, उस समय की दशा और वर्तमान दशा में बहुत अन्तर पड़ गया है और इसलिये उन सिद्धान्तों मे कही-कहीं भूल जान पड़ती है। इन सत्तर-अस्सी वर्षों मे सम्पत्ति का परिमाण और संग्रह सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गया है, और इस कारण वर्तमान आर्थिक दशा और व्यवसाय-वाणिज्य की प्रणाली पहले से बहुत भिन्न हो गई है। मार्क्स के सिद्धान्तों मे एक बड़ी कठिन बात, जो समझ में नही आती यह है कि वह आविष्कारकों, भौतिक-विज्ञान के ज्ञाताओ और व्यवसाय तथा खेती के विशेषज्ञो का महत्व अतिरिक्त-मूल्य (नफा) की उत्पत्ति मे कुछ भी नही समझता। जो आविष्कारक रासायनिक खोजो द्वारा

खेती की पैदावार को दुगुना चौगुना कर देते हैं, अथवा रद्दी चीजों से करोड़ों रुपये की काम में आनेवाली चीजें बनाने की तरकीब निकालते हैं; जो भौतिक विज्ञान के ज्ञाता प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य-जाति के उपयोग में लाने के उपाय ढूँढते हैं और उनके द्वारा वस्तुओं की उत्पत्ति को बेहद बढ़ा देते हैं; जो प्रबन्धक अपनी योग्यता और प्रबन्ध-शक्ति द्वारा लाखों श्रमजीवियों से नियमपूर्वक काम कराते हैं, जिससे थोड़े से लोग बहुत काम कर सकते हैं—इन सब लोगों को मार्क्स उत्पत्ति में सहायक नहीं मानता, यद्यपि इनके कारण उत्पत्ति की बहुत वृद्धि होती है और इनको इस काम में बहुत कुछ मानसिक परिश्रम भी करना पड़ता है।

पर वस्तुओं के बँटवारे के सम्बन्ध में मार्क्स ने जो सिद्धान्त बतलाया है वह अभी तक बिल्कुल ठीक है। पूँजी-वाद की प्रधानता के कारण, देश में उत्पन्न होनेवाली तमाम चीजों का बँटवारा, उन चीजों के बनाने या पैदा करने मे किये गये श्रम के अनुसार न होकर उनमें लगाई गई पूँजी और खरीदने बेचने की व्यापारिक योग्यता अथवा चालाकी के अनुसार होता है। यह बात बड़ी अन्यायपूर्ण है और यही वर्तमान सामाजिक अशान्ति की जड़ है।

यद्यपि मार्क्स श्रमजीवी आन्दोलन सम्बन्धी सिद्धान्तों का सबसे बड़ा अन्वेषक था और समाज-शास्त्र का भी पूरा विद्वान् था, तो भी उसको जो महत्व प्राप्त हुआ है वह

अधिकांश में आन्दोलनकारी की दृष्टि से है। उसकी रचनायें श्रमजीवियो के विचारो और भावो को, अन्य तमाम साम्य-वादी और आर्थिक रचनाओं की अपेक्षा, अधिक क्रान्ति-कारी रूप में प्रकट करने वाली है। उसने मूल्य, अतिरिक्त-मूल्य, ऐतिहासिक भौतिक वाद, पूँजीवाद के विकास, वर्ग-कलह आदि की जो व्याख्यायें और विवेचन किये हैं उनकी सचाई से श्रमजीवी बहुत काल तक प्रभावित होते रहेंगे और श्रमजीवी आन्दोलन को सदा नवीन बल मिलता रहेगा।

मार्क्स का हृदय उस समय अवश्य ही आनन्द से भर उठा होगा जब कि उसने हेगल, रिकार्डो और पूँजीवाद-विरोधी अङ्गरेज लेखको के विचारो और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तथा इङ्गलैण्ड की व्यवसायिक क्रान्ति के अध्ययन के द्वारा एक नवीन, सर्वाङ्ग-पूर्ण विचार-प्रणाली का निर्माण किया, जो कि मनुष्य जाति को भूतकाल के बन्धनों से छुड़ाकर एक नवीन जगत् का रास्ता दिखला दे, जहाँ पर वह आध्यात्मिक सभ्यता के शिखर पर चढ़ सके; जिसकी सहायता से मनुष्य, जीवन-निर्वाह की चिन्ता से मुक्त होकर सच्ची स्वतंत्रता का आनन्द प्राप्त कर सके और वह दूसरों के लाभ का साधन न बनकर अपने जीवन के उच्च उद्देश्य को सिद्ध कर सके; तथा अपने जीवन को स्वेच्छापूर्वक संसार की सेवा मे अर्पण कर सके।

परिशिष्ट

मार्क्स के लिखे हुये ग्रंथ

(१) पवित्र कुटुम्ब (The Holy Family)—यह पुस्तक एञ्जिल्स के सहयोग से लिखी गई थी। इसमें आदर्शवादियो से मार्क्स ने अपना मतभेद प्रकट किया है।

(२) दर्शनशास्त्र की दरिद्रता (Misery of Philosophy)—यह पुस्तक प्राउढन की 'The Philosophy of Misery' का खण्डन करने के लिये लिखी गई थी। इसका अङ्गरेजी अनुवाद सन् १६०० में 'Twentieth Century Press' से प्रकाशित हुआ है।

(३) कम्यूनिज्म का घोषणापत्र (Communist

Manifesto)—इसका प्रामाणिक अङ्गरेजी अनुवाद प्रथम बार सन् १८८८ में प्रकाशित हुआ।

(४) अठारहवाँ ब्रूमेयर (The Eighteenth Brumaire of Louis Buonaparte)—इसमें फ्राँस के तीसरे नैपोलियन के एकतंत्र सम्राट् बन बैठने की कठोर आलोचना की गई है।

(५) पामरस्टन, उसने क्या किया (Palmerston, What has he done ?)—यह पुस्तक सन् १८५५ में 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में प्रकाशित हुई थी।

(६) अर्थशास्त्र की आलोचना (Contribution to the Critique of Political Economy)—इस पुस्तक का अङ्गरेजी अनुवाद 'इंटरनेशनल लायब्रेरी' में सन् १९०४ में प्रकाशित हुआ था।

(७) हर वाट (Herr Voght)—इसमें मार्क्स ने अपने ऊपर किये गए निन्दनीय व्यक्तिगत आक्षेपों का उत्तर दिया है।

(८) कैपिटल (Capital)—इस ग्रंथ के पहले भाग का अङ्गरेजी अनुवाद १८८७ में और दूसरे तथा तीसरे का १९०७ और १९०९ में प्रकाशित हुआ है।

(९) फ्राँस में गृह-युद्ध (The Civil War in France)—यह पुस्तक फ्राँस के साम्यवादी शासन (कम्यून) के ध्वंस होने पर लिखी गई थी।

(१०) गोथा प्रोग्राम सम्बन्धी चिट्ठियाँ (Letters on Gotha Programme)—यह पुस्तक जर्मनी के साम्य-वादियों के दो दलों के पारस्परिक समझौते के विरोध में लिखी गई थी।

(११) जर्मनी में क्रान्ति और उसकी प्रतिक्रिया (Revolution and Counter-Revolution in Germany)—यह पुस्तक जर्मनी में सन् १८४८ में होने वाली क्रान्ति और उसके दमन के सम्बन्ध मे लिखी गई है।

(१२) फ्रांस में वर्ग-कलह (The Class War in France)—इसमें सन् १८४८ से १८५० तक की फ्राँस में होनेवाली राज्यक्रान्ति-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन है।

(१३) पूर्वीय प्रश्न (The Eastern Question)—इसमें सन् १८५३ से १८५६ तक लिखे गये पूर्वीय देशों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों का संग्रह है।

(१४) अठारहवीं शताब्दी की कूटनीति का इतिहास (The Secret Diplomatic History of the Eighteenth Century)।

(१५) लार्ड पामरस्टन की जीवनी (The Story of the Life of Lord Palmerston)—इन दोनों पुस्तकों में इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञ लार्ड पामरस्टन की

नीति की आलोचना की गई है और सिद्ध किया गया है कि उसको रूस का शत्रु बतलाना असत्य है।

(१६) मजदूरी, श्रम और पूँजी (Wage, Labour and Capital)—यह 'न्यू राइनिश जीटुङ्ग' में प्रकाशित लेखों का छोटा सा संग्रह है, जिसे सन् १९०८ में इङ्गलैण्ड की 'सोशलिस्ट लेबर पार्टी' ने प्रकाशित किया है।

(१७) लागत, कीमत और नफा (Value, Price and Profit)—यह भी मार्क्स का लिखा छोटा सा ट्रैक्ट है, जिसे उपरोक्त पार्टी ने प्रकाशित किया है।
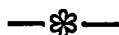
—❀—

कैसर की रामकहानी

यह जर्मनी के परम प्रसिद्ध भूतपूर्व सम्राट् की अत्यन्त मनोरंजक जीवन-स्मृति का सचित्र हिन्दी-अनुवाद है।

"महासमर के रंगमंच पर 'पार्ट' करनेवालों में कैसर की बराबरी करनेवाला कोई न था। इस पुस्तक में आप आज उन्हीं की ज़ुबानी यह सुन सकेंगे कि लड़ाई के बीज कैसे बोये गये और उसकी फ़सल कैसे काटी गयी? आजकल की राजनीति में झूठ-फ़रेब, छल-प्रपंच का क्या स्थान है और उसका इस लड़ाई में क्या उपयोग किया गया—कैसर को जर्मनी का राज-सिंहासन छोड़कर दूसरे देश में क्यों शरण लेनी पड़ी?"

—(भूमिका से)

मूल में कुछ बातें ऐसी थीं, जिनका हिन्दी पाठकों के लिए स्पष्टीकरण आवश्यक था। इसलिए पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर उनकी व्याख्या कर दी गयी है।

पुस्तक में कैसर, बिस्मार्क, हिन्डनबर्ग आदि के चित्र भी हैं।

आचार्य पंडित महावीर प्रसादजी द्विवेदी की सम्मति है:—

"आपने यह पुस्तक लिखकर बड़ा उपकार किया। पुस्तक दिव्य है। समय के अनुकूल है। शिक्षित भारतवासियों के पढ़ने,

मनन करने और शिक्षा ग्रहण करने योग्य है।"

कविवर मैथिली शरण जी गुप्त लिखते हैं:—

"बड़ी अच्छी पुस्तक आपने हिन्दी को भेंट की है।"

अन्य सम्मतियां

"हर्ष है कि अनुवादक ने हिन्दी संसार को भी कैसर की बहुमूल्य पुस्तक का ज्ञान प्राप्त करना सरल कर दिया है। प्रस्तुत पुस्तक से कैसर के चरित्र एवं पिछले यूरोपीय महायुद्ध के कारण आदि का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि भली भाँति यह पता चल जाता है कि पश्चिम के साम्राज्य-लोलुप राज्य किस प्रकार स्वार्थ साधन के लिये युद्ध काल में असत्य पर उतर आते और संसार की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया करते हैं। अनुवाद अच्छा हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अनुराग रखनेवालों के लिये तो ख़ास करके पठनीय एवं संग्रहणीय है।"

—विश्वमित्र

"इस पुस्तक का अनुवाद आपने ऐसे रोचक ढंग से किया है, भाषा ऐसी मज़ेदार व्यवहार की है कि इसे एक बार हाथ में लेने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को जी नहीं चाहता।"

—स्वाधीन भारत

ऐसी उपयोगी, सुन्दर, सचित्र पुस्तक का मूल्य १) मात्र।

पद्म-पराग

इस पुस्तक के विषय में इतना ही कहना बस होगा कि इसके लेखक समालोचक-शिरोमणि पंडित श्रीपद्मसिंह जी शर्म्मा हैं। बहुत दिनों से इस लेख-संग्रह के प्रकाशित होने की चर्चा चल रही थी। पंडितजी इसकी जीवनी के प्रसंग में लिखते हैं :— "जो मुद्दत से छिपे पड़े थे अब छपकर बाहर निकल रहे हैं। बहुत छिपाया पर ग्राहकों ने ज़बरदस्ती छीन ही लिया— काग़ज़ों के कोने से खींचकर नुमायश के बाज़ार में ले ही आये"।

कुछ सम्मतियाँ

"Pandit Padma Sinha Sharma is at his best in biographical and critical essays. His admirers will find practically all his biographical essays in this well-illustrated volume."

—The Leader (Allahabad)

"इन सुन्दर लेखों के इस संग्रह के प्रकाशन पर हम प्रकाशक को हृदय से बधाई देते हैं।"

—प्रताप (कानपुर)